

॥ श्रीशंकर ॥

अनुवाद
ज्ञानेश्वरी

: अनुवाद :
अनंत दामोदर आठवले
(स्वामी वरदानंदभारती)

श्रीराधादामोदर प्रतिष्ठान, पुणे

प्रकाशक :

वि.वा. ग.प्र.परांजपे,
अध्यक्ष, श्रीराधादामोदर प्रतिष्ठान,
'प्रतिक', ४०३/१ शनिवार पेठ,
मेहुणपुरा, पुणे ४११ ०३०.
दूरध्वनी : ०२०-२४४९२४९७

प्रकाशन काल :

आवृत्ती सातवी
गंगादशहरा
ज्येष्ठ शु. १०, १९३६
८ जून २०१४

© सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : तीनशे रुपये

मुद्रक :

पु.स. सहस्रबुद्धे
बालोद्यान प्रेस
१३५८ ए, शुक्रवार पेठ
पुणे ४११ ००२.

॥ श्री ॥

ओवी संख्या

| अध्याय क्रमांक | श्लोक संख्या | ओवी संख्या मूल ज्ञानेश्वरी | ओवी संख्या अनुवाद ज्ञानेश्वरी |
|----------------|--------------|-------------------------------|----------------------------------|
| १ | ४७ | २७५ | ३२६ |
| २ | ७२ | ३७५ | ३९९ |
| ३ | ४३ | २७६ | ३०९ |
| ४ | ४२ | २२५ | २७५ |
| ५ | २९ | १८० | २०२ |
| ६ | ४७ | ४९७ | ५४९ |
| ७ | ३० | २१० | २३७ |
| ८ | २८ | २७१ | २८८ |
| ९ | ३४ | ५३५ | ६०८ |
| १० | ४२ | ३३५ | ३७५ |
| ११ | ५५ | ७०८ | ७४४ |
| १२ | २० | २४७ | २७७ |
| १३ | ३४ | ११६९ | १३४१ |
| १४ | २७ | ४१५ | ४९४ |
| १५ | २० | ५९९ | ७०३ |
| १६ | २४ | ४७३ | ५३६ |
| १७ | २८ | ४३३ | ४७२ |
| १८ | ७८ | १८१० | २१४१ |
| | ७०० | ९०३३ | १०२७६ |

॥ श्रीशंकर ॥

श्रीज्ञानेश्वरस्तोत्रम् ।

॥ ॐ नमो भगवते श्रीज्ञानदेवाय ॥

सद्गुरुं सच्चिदानन्दं केवलं करुणाकरम् ।
ज्ञानयोगेश्वरं वन्दे ज्ञानदेवं पुनः पुनः ॥१॥
वाङ्मनोबुद्धिभावानामतीतं परमेश्वरम् ।
निष्कलं सगुणं वन्दे ज्ञानदेवं पुनः पुनः ॥२॥
निर्मलं सदयं शान्तं प्रणताखिलमङ्गलम् ।
ज्ञानैकरूपिणं वन्दे ज्ञानदेवं पुनः पुनः ॥३॥
भक्तिकल्पतरोर्मूलं बीजं साधनसम्पदः ।
सर्वलोकहितं वन्दे ज्ञानदेवं पुनः पुनः ॥४॥
आविर्भूतो हरिः साक्षात् पावने गौतमीतटे ।
रूपेण यस्य तं वन्दे ज्ञानदेवं पुनः पुनः ॥५॥
निवृत्तिमार्गिणो मुक्तिः सोपानसुलभाकृता ।
कृपया यस्य तं वन्दे ज्ञानदेवं पुनः पुनः ॥६॥
ज्ञानं भक्तिरसं यस्य यद्भक्तिर्ज्ञानभास्वती ।
तमद्वैतपरं वन्दे ज्ञानदेवं पुनः पुनः ॥७॥

दृष्टिः कृपावती यस्य नित्यं पीयूषवर्षिणी ।
नताश्रयाङ्घ्रिं तं वन्दे ज्ञानदेवं पुनः पुनः ॥८॥

सुधाविजयिनी तापशमनी लोकपावनी ।
भारती यस्य तं वन्दे ज्ञानदेवं पुनः पुनः ॥९॥

भावार्थदीपिका यस्यानुभवामृतजीवनी ।
तं बुद्धिभास्करं वन्दे ज्ञानदेवं पुनः पुनः ॥१०॥

शरदिन्दुमनोज्ञाङ्गं कमलायतलोचनम् ।
पद्मासनस्थितं वन्दे ज्ञानदेवं पुनः पुनः ॥११॥

प्रसन्नं परमोदारं वरदं सुस्मिताननम् ।
आलन्दिवल्लभं वन्दे ज्ञानदेवं पुनः पुनः ॥१२॥

सुहृदं सर्वभूतानां मातरं पितरं प्रभुम् ।
प्रेमलं वत्सलं वन्दे ज्ञानदेवं पुनः पुनः ॥१३॥

बुद्धिनद्याः शरत्कालं प्रग्रहं चित्तवाजिनः ।
पापतापहरं वन्दे ज्ञानदेवं पुनः पुनः ॥१४॥

हे तात ! भवतैवोक्तं शिशोर्माता स्वयं हिता ।
चित्तवृत्तेः समाधानं बुद्धेः स्थैर्यं सदाऽस्तु मे ॥१५॥



विषयानुक्रमणिका

| ओवीसंख्या | विषय | ओवीसंख्या | विषय |
|---------------------|---|-----------|---|
| अध्याय पहिला | | | |
| १ | अनुवादकर्त्यांचें नमन | १३२ | दुर्योधनाने केलेले पांडवसैन्याचे वर्णन |
| १९ | गणेशाचे रूपक | १४२ | दुर्योधनाने केलेले कौरवसैन्याचे वर्णन |
| २४ | गणेशाच्या शरीरांतील निरनिराळ्या अवयवांचे व अलंकार-भूषणांचें रूपकात्मक वर्णन | १६० | दुर्योधनाचा स्वसैन्याला आदेश |
| ५२ | सरस्वतीचंदन | १६४ | भीष्मांचा संतोष |
| ५४ | सद्गुरुमहिमा | १६९ | नानावाद्यांचा घोष |
| ६१ | महाभारताचे माहात्म्य | १७७ | कृष्ण व पांडव यांनी शंख वाजविले |
| ८३ | गीतेची थोरवी | १९४ | शंखांच्या आवाजाचे परिणाम |
| ९१ | श्रोत्यांनी हळुवारपणा धरावा | २०६ | सैन्य सांवरिले |
| ९७ | ज्ञानेश्वरांचा विनय | २११ | अर्जुनाची कृष्णाला विनंति |
| १०८ | गीतेची महति | २१६ | अर्जुनाने सैन्यामध्ये आम स्वकीय पाहिले |
| १११ | ज्ञानेश्वरांचा विनय | २२८ | स्वजनाला पाहून अर्जुनाला करुणा उत्पन्न झाली |
| ११४ | संतांची महति | २५५ | युद्ध न करण्याविषयीचे अर्जुनाचे प्रतिपादन |
| १२२ | निवृत्तिनाथांचा आदेश | ३१९ | अध्यायाचा उपसंहार |
| १२४ | धृतराष्ट्राचा प्रश्न | | |
| १२७ | संजयाचे उत्तर | | |

अध्याय दुसरा

| | | | |
|----|--|----|---|
| १ | संजयाने वर्णिलेली अर्जुनाची स्थिति | | अर्जुनाने सांगितलेले कारण |
| ६ | श्रीकृष्णाने अर्जुनास फटकारले | ५५ | अर्जुन शिष्य-भावाने शरण येतो |
| २१ | अर्जुनाचे शौर्य जागृत करण्याचा प्रयत्न | ६४ | राज्याच्या प्रलोभनाने माझा शोक जाणार नाही |
| ३० | युद्ध कां करावेसे वाटत नाही त्याचें- | | |

| ओवीसंख्या | विषय | ओवीसंख्या | विषय |
|-----------|--|-----------|--------------------------------------|
| ७० | अर्जुन मोहग्रस्त | १२७ | उपाधिगत चैतन्य जाणून घ्यावे |
| ७७ | अर्जुनाच्या रक्षणासाठी श्रीकृष्ण सिद्ध झाले | १३५ | चैतन्य अविनाशी आहे |
| ८२ | अर्जुन निवांत बसला | १६० | जन्ममृत्यू क्रमाने होतात |
| ८५ | श्रीकृष्णाचे चिंतन | १७४ | चैतन्याचे वैशिष्ट्य |
| ८९ | श्रीकृष्ण आईप्रमाणे रागावून बोलले | १८७ | क्षत्रियधर्माप्रमाणे युद्ध श्रेयस्कर |
| ९२ | त्रिभुवनाचा भार अर्जुनावर नाही म्हणून त्याने अहंकार धरून नये | २०९ | स्वधर्म-त्यागाने अपकीर्ति |
| १०४ | जन्ममृत्यू अपरिहार्य | २२८ | युद्धापासून लाभ |
| ११२ | विषयाच्या ठिकाणी एकनिष्ठता नाही | २३९ | बुद्धियोग |
| | | २९८ | स्थितप्रज्ञाविषयी अर्जुनाचा प्रश्न |
| | | ३०४ | स्थितप्रज्ञाची लक्षणे |

अध्याय तिसरा

| | | | |
|-----|--|-----|---|
| १ | घोर कर्माकडे कां प्रवृत्त करतोस असा अर्जुनाचा प्रश्न | १६३ | आत्मसंतुष्टाला कर्म बाधत नाही |
| ६ | संदिग्ध सांगू नको | १६९ | जनकादि कर्माने उद्धरले |
| २४ | तुझ्यासारखा गुरु भाग्याने लाभला | १७१ | शौर पुरुषांनी लोकांना मार्गदर्शक होण्यासाठी कर्म करावे |
| ३५ | कर्मयोग, ज्ञानयोगाचे फल एक | १९४ | प्रकृतीचे कर्म, मूर्ख, अहंकाराने आपले मानतो; शाहणा तसे मानीत नाही |
| ४४ | कर्मयोग, ज्ञानयोगाचा अधिकार भेद | | |
| ४९ | उचित कर्म टाळू नये | २०३ | सर्व कर्म देवाला अपूर्ण युद्ध कर |
| ५५ | कर्म टाकतां येत नाही | २१० | माझे मत मानणाऱ्याचे कल्याण होते, न मानणाऱ्याचे अकल्याण होते |
| ७६ | कर्मत्यागाने दंभ | | |
| ८० | कर्म करून असक्त | २२१ | इंद्रियांचे लाड करून नयेत |
| ८९ | अकर्मापेक्षां कर्म श्रेष्ठ | २४० | स्वधर्माचेच आचरण करावे; परधर्म सुखाचा वाटला तरी घेऊ नये |
| ९५ | स्वधर्मयज्ञ | | |
| ११० | स्वधर्म-यज्ञ लाभदायक | २५१ | पापाकडे कोण प्रवृत्त करतो ? -अर्जुनाचा प्रश्न |
| ११८ | यज्ञावाचून भोग भोगणे पाप देणारे | | |
| १३४ | यज्ञ करून उरले ते भोगावे | २६० | कामक्रोधांचे स्वरूप |
| १५१ | यज्ञाची हितकारिता | २९६ | कामक्रोध जिंकण्याचा उपाय |

: २ :

| ओवीसंख्या | विषय | ओवीसंख्या | विषय |
|-----------|------|-----------|------|
|-----------|------|-----------|------|

अध्याय चवथा

| | | | |
|----|---|-----|--|
| १ | श्रवणेंद्रियाचे भाग्य उजाडले. श्रोत्यांची पुण्ये फलद्रूप झाली | १६ | कर्म-अकर्माचा विवेक |
| ७ | निवृत्तिनाथांचे भाषण | ११८ | संकल्परहित ज्ञात्याला कर्म बाधत नाही |
| ९ | अर्जुनाचे भाग्य | १२८ | संग-रहिताची लक्षणे |
| १८ | कर्मयोगाची प्राचीन परंपरा | १३७ | यज्ञाचे निरनिराळे प्रकार |
| २२ | कर्मयोग बुडण्याची कारणे | १८१ | यज्ञाने लाभ होतो म्हणून यज्ञ अवश्य करावा |
| ३२ | भक्त म्हणून अर्जुनास योग सांगितला | | |
| ३७ | प्राचीनकाळी तू कुठे होतास असा अर्जुनाचा प्रश्न | १९१ | यज्ञ न करणाऱ्याची हानि |
| ४६ | देव वरचेवर अवतार घेतो व धर्म संस्थापना करतो | १९५ | ज्ञानयज्ञाची महति |
| ६६ | देवाच्या अवताराच्या ज्ञानाने ज्ञानी देवाला मिळतात | २०७ | ज्ञानप्राप्तीचे उपाय |
| ७८ | देव जशास तसा वागतो | २१५ | ज्ञानाचे महत्त्व |
| ८९ | चातुर्वर्ण्याची उत्पत्ति गुणकर्मानुसार | २२९ | ज्ञानप्राप्तीचे उपाय |
| ९२ | देवाला व ज्ञात्याला कर्माचा लेप लागत नाही | २३८ | संशयाचा परिणाम |
| | | २५२ | संशयविनाशाचा मार्ग |
| | | २५८ | अत्यंत रसाळपणे सांगितलेले ज्ञान |

अध्याय पांचवा

| | | | |
|----|---|-----|-----------------------------------|
| १ | संन्यास व कर्म यांतील श्रेयस्कर ते सांगा असा अर्जुनाचा प्रश्न | ७१ | श्रोत्यांचे भाषण |
| १० | अर्जुनावर कृष्ण प्रसन्न झाले | ७५ | कृतार्थ-पुरुषाचे लक्षण |
| १६ | संन्यास आणि कर्म दोन्ही मोक्षदायक | ८२ | ईश्वर अकर्ता आहे |
| १७ | कर्मयोग सोपा | ९३ | ज्ञानी समदृष्टि होतो |
| १८ | संन्यासाचे लक्षण | ११३ | इंद्रिय-सुखामध्ये ज्ञानी रमत नाही |
| २७ | सांख्ययोग, कर्मयोग एकच | १४७ | ब्रह्मनिष्ठांचे वर्णन |
| ३४ | संन्यासाची कठिणता | १५१ | निवृत्तिनाथांचे भाषण |
| ३७ | कर्म करून लेप न लागण्याचे स्वरूप | १५६ | परब्रह्माशी एकरूपता |
| | | १६६ | ब्रह्माशी एकरूप होण्याचा मार्ग |

: ३ :



| ओवीसंख्या | विषय | ओवीसंख्या | विषय |
|---------------------|--|-----------|---|
| १७९ | योगमार्गाच्या ज्ञानाविषयीची अर्जुनाची उत्सुकता | १८७ | कृष्णार्जुनांचे प्रेम |
| | | २०० | सहाव्या अध्यायाचा उपक्रम |
| अध्याय सहावा | | | |
| १ | सहाव्या अध्यायाचा उपक्रम | २०५ | योगसाधनेचे आसन |
| ५ | धृतराष्ट्राची मनोवृत्ति | २१६ | योगसाधनाची बैठक |
| १० | सहाव्या अध्यायाचे महत्त्व | २३४ | योगाभ्यासांत प्राप्त होणाऱ्या अवस्था |
| १७ | ज्ञानेश्वरांच्या भाषेचे वैशिष्ट्य | ३२३ | पिंडे पिंडाचा ग्रास |
| २७ | अर्थज्ञान कसे मिळवावे ? | ३२८ | योग्याचे स्वरूप |
| ३२ | श्रवणाचे अधिकारी | ३३३ | योगसाधनामध्ये प्राप्त होणारी अंतिम स्थिति |
| ३७ | निवृत्तिनाथांची कृपा | | |
| ४४ | भगवंताचे लक्षण | ३६६ | योग्यतेविषयीचा अर्जुनाचा प्रश्न |
| ४६ | कर्मयोग व संन्यास | ३८१ | योग्य आहार-विहाराचे योगमार्गातील महत्त्व |
| ६१ | योगरूप पर्वतावर चढण्याचा क्रम | | |
| ७१ | योगारूढाचे लक्षण | ३९१ | योग्याची स्थिति |
| ७५ | अद्वैतामध्ये कोणी कोणाला कांही देऊ शकत नाही | ३९७ | इंद्रिये नियंत्रित असली तर योगांत कांही अवघड नाही |
| ९१ | युक्ताची लक्षणे | ४०४ | चैतन्याचे लाभ |
| १०६ | समबुद्धि | ४१२ | योगासाठी संकल्पाचा त्याग करावा |
| १२० | श्रीकृष्णाची योग्यता | ४१८ | मनाला वळविण्याचे उपाय |
| १२५ | अर्जुनाच्या ठिकाणी द्वैत राखले | ४५१ | मनाच्या चंचलत्वाविषयीचा अर्जुनाचा प्रश्न |
| १३५ | अर्जुनावरील कृष्णप्रेम | | |
| १५० | श्रोत्यांनी व्यक्त केलेला आदर | ४५८ | मनाच्या नियमनाचा उपाय |
| १५९ | अर्जुनाचा प्रश्न | ४६८ | योग-साधन अर्धवट राहिले की काय होते असा अर्जुनाचा प्रश्न |
| १६५ | अर्जुनाचे भाग्य | | |
| १७५ | पंथराज | ४७८ | योगभ्रष्टाला लाभणारी स्थिति |
| १८६ | योगसाधनेला योग्य स्थान | ५३५ | सहाव्या अध्यायाचा उपसंहार |

: ४ :



| ओवीसंख्या | विषय | ओवीसंख्या | विषय |
|---------------------|--------------------------------------|-----------|--|
| अध्याय सातवा | | | |
| १ | सातव्या अध्यायाचा उपक्रम | ११२ | भक्त मायेतून लीलेने तरतात. |
| ६ | ज्ञान-विज्ञान-अज्ञानाची लक्षणे | ११८ | मायेत गुंतणारे लोक |
| १२ | ज्ञानी दुर्मिळ आहे | १२४ | भक्तांचे चार प्रकार |
| १७ | विज्ञानाचे स्वरूप | १२८ | ज्ञानी भक्त |
| ३३ | सर्वांना मीच कारण आहे | १५९ | भोगासाठी भक्ति करणाऱ्यांच्या उपासनेचे स्वरूप |
| ३७ | भगवंताच्या रसादि विभूति | | |
| ५० | धर्माशी अविरोद्ध काम हे भगवंताचे रूप | १८१ | भगवंताचे रूप जाणणे कठीण |
| ५९ | त्रिगुणांची निर्मिति | १९५ | भगवंताला कोण ओळखू शकतात |
| ७४ | मायेचे स्वरूप | २०९ | सातव्या अध्यायाचा उपसंहार |

अध्याय आठवा

| | | | |
|----|---|-----|---|
| १ | अर्जुनाचे ब्रह्म, अध्यात्म इत्यादि विषयीचे प्रश्न | १०२ | ज्ञान्याचे मरण |
| १५ | ब्रह्म | १०५ | ब्रह्माचे स्वरूप |
| १८ | अध्यात्म | ११० | ज्ञानी विषय टाकतात |
| २३ | कर्म | ११५ | अंतकाली ब्रह्मांत लीन होण्याची पद्धति |
| ३१ | अधिभूत | १२७ | ईश्वर भक्तासाठी वाटेल ते करतो |
| ३४ | अधिदेवत | १४९ | ज्ञानी भक्तांना पुनर्जन्म नाही |
| ३९ | अधियज्ञ | १५० | शरीराचे स्वरूप |
| ५६ | श्रीकृष्णाचा संतोष | १६३ | ब्रह्मदेवासह सर्वांना पुनर्जन्म आहे |
| ६३ | अंतकाली स्थिति-गति | १८२ | ब्रह्माचे स्वरूप |
| ७९ | अंतकाली स्मरणाप्रमाणे गति | २१३ | अर्चिरादि मार्ग |
| ८१ | सर्वकाल भगवंताचे स्मरण करून कार्यरत रहावे | २३६ | धूम्रमार्ग |
| ८५ | अभ्यासाने इष्टसिद्धि | २५८ | खरा ज्ञानी व भक्त यांना मार्गाचे बंधन नाही. ज्ञानी स्वर्गसुखाची उपेक्षा करतात |
| ८८ | चित्ताचे लीन होणे | | |
| ९१ | आत्म्याचे स्वरूप | २८४ | आठव्या अध्यायाचा उपसंहार |
| ९६ | ब्रह्माच्या स्मरणाची पद्धति | | |

: ५ :

| ओवीसंख्या | विषय | ओवीसंख्या | विषय |
|--------------------|--|-----------|--|
| अध्याय नववा | | | |
| १ | श्रोत्यांना लक्ष देण्याची विनंति | २७० | लक्ष देऊन ऐकणे हे वक्तृत्वाला |
| ३ | श्रोत्यांची योग्यता व ज्ञानेश्वरांचा विनय | २७८ | आमंत्रण ज्ञानयज्ञ |
| ३० | श्रोत्यांमुळे वक्तृत्वाची वाढ | २८९ | अभेदभावाने भक्ति |
| ३८ | निवृत्तिनाथांचा आदेश | ३०७ | ईश्वरच सर्व कांही आहे |
| ४० | अर्जुनाला सांगावेसे वाटते | ३४२ | ईश्वरच सर्व कांही करतो |
| ५० | ज्ञान-विज्ञानाची निवड | ३४९ | ज्ञान नसल्यामुळे होणारी स्थिति |
| ५५ | ज्ञानाचे महत्त्व | ३५५ | सकाम कर्माने अहित |
| ६२ | लोक ज्ञान कां घेत नाहीत | ३६२ | ईश्वरप्राप्तीतील आडवाटा |
| ७३ | जगत् आणि ईश्वर यांचा संबंध | ३६६ | शुद्ध पुण्य |
| ७८ | भूतें माझ्यांत असली तरी मी भूतांत नाही | ३६८ | स्वर्गाचे स्वरूप |
| ८४ | भूताकार कल्पनेने दिसतो | ३७८ | पुण्य संपताच स्वर्गांतून अधःपात |
| १०१ | भूते व मी एकमेकांपासून भिन्न नाही | ३८६ | अनन्य भक्त |
| ११४ | कल्पाच्या शेवटी भूते लीन होतात | ३९९ | इतर देवांची उपासनाहि ईश्वरासच पोंचते |
| १२० | अव्यक्त प्रकृतीचा मी स्वीकार करतो | ४०८ | उपासनेप्रमाणे गति मिळते |
| १३६ | उत्पत्ति, स्थिति, नाशाशी ईश्वराचा संबंध नाही | ४२३ | अहंकाराजवळ ज्ञान नसते |
| १५१ | शब्दज्ञानाने फसवणूक होते | ४३२ | लक्ष्मीची योग्यता थोर तरी तीहि दासी झाली |
| १६० | स्थूल दृष्टीने ईश्वराचे ज्ञान होत नाही | ४४३ | भक्तीने दिलेले पानफूलहि देवास आवडते |
| १७२ | अज्ञानी ईश्वरावर मनुष्यधर्माचा आरोप करतात. | ४६१ | सर्व कर्म ईश्वरास अर्पण करावी. |
| १९४ | अज्ञानी माणसाचे जिणे व्यर्थ | | कर्तेपणा घेतला नाही म्हणजे मुक्ति लाभते |
| २०२ | तमोगुणाची राक्षसी अज्ञान्यास गिळते | ४७० | देवभक्त एकरूप होतात |
| २१५ | सत्पुरुष-लक्षणे | ४७८ | दुराचारीहि अनन्यतेमुळे भक्त होतो |
| २२५ | भक्तांच्या भजनाचे स्वरूप | ४९४ | भक्तीपुढे कुळ-विद्यादींची प्रतिष्ठा नाही |
| २४४ | योगमार्गाने भक्ति | | भक्तीने नीचहि उद्धरतात |
| २५६ | नम्रतेने भक्ति | ५०४ | |

: ६ :

| ओवीसंख्या | विषय | ओवीसंख्या | विषय |
|-----------|--|-----------|---|
| ५२८ | कोणत्याहि भावाने ईश्वरासी मिळाले तरी फळ सारखेच | ५७६ | मृत्यूलोकाची उलटी रीत |
| ५४१ | सदाचरणांत राहून भक्ति केली तर उत्तमच | ५८७ | सर्वभावाने ईश्वराची भक्ति करावी |
| ५५७ | जन्माला आलेल्याने ईश्वरभक्ति करावी | ५९३ | संजयाचे भाषण धृतराष्ट्रास आवडले नाही |
| ५६३ | क्षणभंगुर प्रपंचांत खरे समाधान नाही | ५९८ | कृष्णाच्या उपदेशाने संजयाची झालेली स्थिति |

अध्याय दहावा

| | | | |
|-----|---|-----|--|
| १ | सद्गुरूंचे स्तवन | १२४ | अभेदभावाने भजन |
| २३ | गीता सांगण्याची पात्रता सद्गुरूकृपेने आली | १३५ | भक्तांची परस्पर भेट |
| ३४ | गीतेतील अध्यायांची विषयानु-क्रमणिका | १४७ | ईश्वर भक्तांना प्रेमसुख देतो |
| ४० | नवव्या अध्यायाचे महत्त्व | १६४ | अर्जुनाला ईश्वराच्या ज्ञानाची कल्पना घेते |
| ५४ | दहाव्या अध्यायापासून गीतेचा उत्तरार्ध | २१५ | विभूति सांग असा अर्जुनाचा प्रश्न |
| ५५ | ज्ञानेश्वरांच्या भाष्याचे महत्त्व | २३९ | निरनिराळ्या विभूतींचे कथन |
| ६३ | अर्जुनाचे लक्ष पारखिले | ३३६ | विभूतींना अंत नाही |
| ७८ | ईश्वराची व्यापकता | ३४२ | विभूति ओळखण्याची खूण |
| ८७ | ज्ञानी ईश्वरास जाणतो | ३४८ | ईश्वरस्वरूपांत सामान्य विशेष भेद नाही |
| ९१ | ज्ञान्याचे स्वरूप | ३५७ | ईश्वरज्ञानाने भेद नाहीसा होतो |
| ९८ | ईश्वरापासून निर्माण होणारे भाव | ३६४ | कृष्णाने अर्जुनाची परीक्षा पाहिली |
| १०८ | ईश्वरापासून ऋषि आणि मनु यांची उत्पत्ति | ३७१ | ईश्वराची व्यापकता डोळ्यांनी पाहण्याची अर्जुनाला इच्छा झाली |
| ११९ | ईश्वराची व्यापकता | | |

: ७ :

| ओवीसंख्या | विषय | ओवीसंख्या | विषय |
|----------------------|--|-----------|---|
| अध्याय अकरावा | | | |
| १ | शांत आणि अद्भुतांचा संगम | ४२६ | विश्वरूप दाखविण्याचे प्रयोजन |
| १५ | अर्जुनाचे भाग्य | ४३१ | विश्वरूपाच्या मुखाची भयानकता |
| १७ | संतांची प्रार्थना | ४६८ | विश्वरूप धारण करणारा तू कोण |
| २८ | गीतेची महति | | असा अर्जुनाचा प्रश्न |
| ३० | अर्जुनाच्या मनातील इच्छा | ४७२ | मी लोकसंहार करणारा काल आहे |
| ३२ | विश्वरूप विचारण्याविषयी अर्जुनाचा संकोच | ४७४ | असे भगवंत सांगतात |
| ४८ | कृष्णाने अर्जुनाला मोहांतून बाहेर काढल्याचा आनंद | ४७९ | अर्जुनास आश्वासन |
| ७४ | ईश्वराचे ज्ञान | ४९० | सैन्याची फुशारकी व्यर्थ आहे |
| ८४ | विश्वरूप दाखवा म्हणण्यास संकोच कां करूं ? | ४९० | अर्जुना तू लढ. तुला विजय सहज मिळेल |
| ८७ | विश्वरूपाचे वर्णन | ५०४ | विश्वरूपाच्या भाषणाचे संजयाने केलेले वर्णन |
| ९६ | विश्वरूप पाहण्याची योग्यता | ५०८ | अर्जुनाची स्थिति व त्याने केलेली प्रार्थना |
| १०४ | कृष्णाचे औदार्य | ५६२ | महत्त्व न ओळखतां कृष्णाशी सलगी केली म्हणून क्षमायाचना |
| ११९ | अर्जुनावर कृष्ण प्रसन्न झाले | | श्रीकृष्णाचे मोठेपण |
| १२५ | विश्वरूपाची गुह्यता | ५८७ | अपराधाची क्षमा करावी |
| १३० | विश्वरूप-वर्णन | ५९४ | पुन्हां पूर्वीचे चतुर्भुजरूप दाखवा अशी विनंति |
| १६१ | दिव्यदृष्टीच्या अभावी अर्जुनास विश्वरूप दिसेना | ६०६ | विश्वरूप-दर्शनाची दुर्लभता |
| १७० | कृष्णाने चूक मान्य करून अर्जुनास दिव्य दृष्टि दिली | ६३७ | विश्वरूपावर प्रेम ठेव |
| १७४ | कृष्णाचे अर्जुनप्रेम | ६५९ | विश्वरूप आवरून कृष्णाने पुन्हां चतुर्भुज रूप धारण केले |
| १८९ | विश्वरूपाचे वर्णन | ६७३ | अर्जुनाच्या जिवांत जीव आला |
| २६१ | विश्वरूप दर्शनाने अर्जुनाची झालेली स्थिति | ६९० | विश्वरूपाची महति कृष्ण सांगतात |
| २७२ | अर्जुनाने केलेले विश्वरूपाचे वर्णन | ७०७ | विश्वरूप व सगुणमूर्ति यांतील चांगले कोण ही शंका अर्जुनाच्या मनात आली व त्याने ती देवास विचारण्याचे ठरविले |
| ३५७ | विश्वरूपाची भयानकता | ७३८ | |
| ४१० | विश्वरूपाच्या मुखांत वीर शिरत आहेत | | |

: ८ :

| ओवीसंख्या | विषय | ओवीसंख्या | विषय |
|----------------------|--|-----------|--|
| अध्याय बारावा | | | |
| १ | सद्गुरूच्या कृपादृष्टीवर आईचे रूपक | १०१ | भक्तांना संसारचिंता नाही |
| १६ | कृपादृष्टीकडे मागणे | ११२ | सर्वस्वाने भक्त व्हावे |
| २४ | निवृत्तिनाथांचा आदेश | १२० | परमेश्वर प्राप्तीचा मार्ग - अभ्यास |
| २६ | अर्जुनाचा सगुणनिर्गुणासंबंधी प्रश्न | १३० | परमेश्वर प्राप्तीचा मार्ग - मत्कर्मपरता |
| ४५ | प्रेमळ भक्तश्रेष्ठ | १४२ | परमेश्वर प्राप्तीचा मार्ग - कर्म फलत्याग |
| ५० | योगमार्गाने जाणारे साधक | १५५ | ईश्वर प्राप्तीच्या मार्गाची तरतमता |
| ७४ | योग्यांना कष्ट अधिक | १६४ | भक्तांची लक्षणे-अद्वेषादि |
| ९१ | भक्तिमार्गाने जाणारास कष्ट नाहीत | २५० | भक्तांचे चरित्र गाणारेहि ईश्वराला प्रिय |
| | | २६४ | |
| अध्याय तेरावा | | | |
| १ | सद्गुरु-वंदन | ३३८ | मनाचेच भाव इंद्रियांतून प्रगट होतात |
| ८ | क्षेत्राचे लक्षण | ३५७ | व्याख्यान विस्ताराबद्दल क्षमायाचना |
| ९ | क्षेत्रज्ञाचे लक्षण | ३८९ | क्षमा |
| १० | ज्ञानाचे लक्षण | ४०६ | आर्जव |
| ११ | क्षेत्रासंबंधीचे निरनिराळे प्रश्न | ४२१ | गुरुभक्ति |
| १८ | क्षेत्रासंबंधीची निरनिराळी मते | ५३० | शुचित्व |
| ८० | क्षेत्राची यथार्थता, महाभूतादि छत्तीस तत्त्वांचा विचार | ५६० | स्थैर्य |
| १८८ | ज्ञानाचे महत्त्व | ५७९ | मनाचा संयम |
| २०७ | आचरणांत ज्ञान दिसते | ५९५ | वैराग्य |
| २१५ | अमानित्व | ६०८ | निरहंकार |
| २३३ | अर्दभित्त | ६२३ | जन्मादि गोष्टीमध्ये दोष पाहणे |
| २५१ | अहिंसा | ६२७ | जन्मदोष |
| २७९ | अहिंसकाचे चालणे | ६३४ | मृत्युदोष |
| २९७ | अहिंसकाचे बोलणे | ६४८ | जरादोष |
| ३१० | अहिंसकाचे पाहणे | ६८३ | व्याधिदोष |
| ३१७ | अहिंसकाच्या हाताचे व्यापार | ६९० | बायका, मुले, घरादाराचा मोह नसणे |
| ३३५ | अहिंसकाचे मन | ६९३ | समचित्तत्व |
| | | ७०० | अव्यभिचारी भक्ति |

: ९ :

| ओवीसंख्या | विषय | ओवीसंख्या | विषय |
|-----------|--|-----------|---|
| ७०८ | एकांतवास | १००६ | ब्रह्माचे स्वरूप |
| ७१२ | अध्यात्मज्ञानाविषयी प्रेम | १०८५ | क्षेत्रादींचे ज्ञान मिळवून भक्त |
| ७३० | श्रोते आणि ज्ञानेश्वरांचा संवाद | | ईश्वरास प्राप्त होतो |
| ७५३ | अज्ञान लक्षणे (अमानित्वादींच्या क्रमाने उलट) | ११०० | प्रकृतिपुरुषविभाग |
| ७५७ | मान अपेक्षिणे | ११२३ | पुरुषाचे स्वरूप |
| ७५९ | दंभ | ११३१ | प्रकृतीचे स्वरूप |
| ७६५ | हिंसा | ११७२ | परमात्म्याचे वर्णन |
| ७६८ | सोशिकपणा नसणे | ११८२ | प्रकृति-पुरुषज्ञानाचे फळ |
| ७७४ | वाकडेपणा | ११९२ | उद्धरून जाण्याचे भिन्न मार्ग |
| ७८० | गुरूविषयी कृतघ्नता | १२०६ | क्षेत्रक्षेत्रज्ञ संयोगातून भूतसृष्टि |
| ७८५ | अपवित्रता | १२१२ | भेदांत ऐक्य कसे पहावे |
| ७९३ | अर्थ-कामांच्या लोभाने चंचलता | १२२५ | देहाचे स्वरूप |
| ८०२ | संयमाचा अभाव | १२३१ | ज्ञानी देहांत गुंतत नाहीत |
| ८१२ | विषयाची आसक्ति | १२४२ | प्रकृतीचे सर्व कार्य करते |
| ८२४ | अहंकार | १२४७ | ब्रह्मसंपन्न कसा होतो |
| ८४१ | जन्मादींचे दोष न पाहणे | १२५९ | परमात्मा कांही करीत नाही |
| ८९८ | बायका मुलांच्याविषयी आसक्ति | १२६८ | देहाचे स्वरूप |
| ९२५ | मनाची अस्थिरता | १२७३ | आत्म्याचे स्वरूप |
| ९२८ | व्यभिचारी भक्ति | १२९७ | क्षेत्रक्षेत्रज्ञाचा जे विवेक करतात ते उद्धरतात |
| ९४८ | गडबडीचे प्रेम | १३१२ | कृष्णाने अर्जुनास हृदयीचे गुज सांगितले |
| ९५० | अध्यात्मज्ञान नसणे | १३१६ | अर्जुनाची ज्ञानलालसा वाढली |
| ९८३ | श्रोत्यांचा संतोष | १३२४ | शृंगाराच्या माथां पाय देईल अशा सरळ भाषेने गीता सांगेन |
| ९९५ | ज्ञेय असे परब्रह्म | | |

अध्याय चौदावा

| | | | |
|----|---------------------------------------|----|---------------------------|
| १ | सद्गुरु प्रार्थना | ३९ | ज्ञानदेवांचा संतोष |
| १८ | सद्गुरूचे वर्णन शक्य नाही | ४५ | चौदाव्या अध्यायाचा उपक्रम |
| २७ | कृपेने मला ग्रंथ रचण्याची बुद्धि द्या | ५५ | ज्ञान हेंच आपले रूप |
| ३६ | निवृत्तिनाथांचा आदेश | ८० | अर्जुनाची उत्सुकता |

: १० :

| ओवीसंख्या | विषय | ओवीसंख्या | विषय |
|-----------|----------------------------|-----------|--|
| ८५ | देव अर्जुनाची स्तुति करतात | २४० | त्रिगुणांतील प्रत्येकाची वाढ, कार्य व स्वरूप |
| ९२ | प्रकृतीचे स्वरूप | ३१४ | सत्त्वादींची फले व परिणाम |
| ११८ | जगदुत्पत्तीचा क्रम | ३४३ | आत्म्याची गुणातीतता |
| १४७ | जगताचा पिता कृष्ण | ३८१ | गुणातीत कसा असतो यासंबंधी अर्जुनाचा प्रश्न |
| १७५ | सत्त्व-रज-तम | ३९० | गुणातीताची लक्षणे |
| १८५ | सत्त्वाचे स्वरूप | ४४६ | अव्यभिचारी भक्तीचे स्वरूप |
| १९९ | रजाचे स्वरूप | ४८१ | कृष्ण हेच ब्रह्म |
| २१५ | तमाचे स्वरूप | | |

अध्याय पंधरावा

| | | | |
|-----|---|-----|---|
| १ | सद्गुरु-पूजन | ४५२ | ईश्वर प्राप्तीसाठी वैराग्याची आवश्यकता |
| १० | सद्गुरु सेवेचे सामर्थ्य | ४६० | सर्व काही ईश्वरच आहे |
| ३३ | ज्ञानामुळे मोक्षलाभ | ४९१ | ईश्वरा विषयींच्या अज्ञानाला ईश्वरच हेतू |
| ३८ | वैराग्याचे महत्त्व | ४९९ | वेदांचा लय ब्रह्मांत |
| ४१ | वैराग्याचा हेतू | ५१३ | अर्जुनाच्या हृदयांत ज्ञान प्रगटले |
| ४५ | वृक्षाच्या रूपकाने संसाराचे वर्णन | ५२० | कृष्ण अर्जुनावर संतुष्ट झाले |
| २३६ | संसारवृक्षाचे मिथ्यात्व व अनित्यत्व | ५२९ | श्रीकृष्णाने अर्जुनाचे द्वैत राखले |
| २८६ | ज्ञानखड्गाने संसारवृक्षाचा नाश | ५३४ | निरुपाधिकासाठी उपाधीचे वर्णन |
| ३०७ | आद्य पुरुषाचे स्वरूप | ५५० | क्षर आणि अक्षर पुरुष |
| ३२२ | आत्म्याचा लाभ कोणास होतो | ६२० | उत्तम पुरुषाचे लक्षण |
| ३४७ | आत्म्याचे स्वरूप | ६५५ | खरे ज्ञान |
| ३६२ | अर्जुनाची शंका | ६६८ | गीतेचे महत्त्व |
| ३७९ | ईश्वर आणि ज्ञानी एकरूप | | |
| ३९७ | प्रकृतीचे धर्म आत्म्यावर येतात | | |
| ४३८ | विवेकी ज्ञानी आत्म्याला अलिप्ततेने पाहतात | | |

: ११ :

ओवीसंख्या

विषय

ओवीसंख्या

विषय

अध्याय सोळावा

| | | | |
|-----|-------------------------------------|-----|---------------------------------------|
| १ | सूर्याच्या रूपकाने सद्गुरूंचे स्तवन | २२३ | क्षमा |
| ४१ | ज्ञानदेवांचा संतोष | २२५ | धृति |
| ५२ | सोळाव्या अध्यायाचा उपक्रम | २३२ | शुचित्व |
| ८२ | दैवी संपत्तीचे वर्णन | २३५ | अद्रोह |
| ८३ | अभय | २४२ | विनय (नातिमानिता) |
| ८९ | सत्त्वशुद्धि | २४५ | दैवी संपत्तीचे महत्त्व |
| ९६ | ज्ञानयोगमार्ग | २५३ | आसुरी संपत्ति |
| १०० | दान | २५७ | दंभ |
| १०५ | दम | २६४ | दर्प |
| १११ | यज्ञ | २७१ | अभिमान |
| ११९ | स्वाध्याय | २७९ | क्रोध |
| १२५ | तप | २८५ | पारुष्य |
| १३४ | आर्जव | २८८ | अज्ञान |
| १३७ | अहिंसा | २९५ | आसुरी संपत्तीचे स्वरूप |
| १३८ | सत्य | ३१० | दैवी व आसुरी संपत्ति |
| १५० | अक्रोध | ३१८ | जगामध्ये दोन प्रकृति |
| १५६ | त्याग | ३३२ | आसुरी प्रकृतीच्या पुरुषाचे वर्तन |
| १६२ | शांति | ४६० | आसुरी प्रकृतीच्या लोकांना मिळणारी गति |
| १६७ | अपैशुन्य | | |
| १८१ | दया | ४८२ | नरकाची दारे |
| १९० | अलोलुपत्व | ४९० | उद्धाराचा उपाय |
| १९५ | मार्दव | ५०४ | कामादिमुळे आत्मघात |
| २०२ | लज्जा | ५१५ | आत्मकल्याणासाठी वेद, शास्त्र |
| २१३ | अचापल्य | | गुरुप्रमाण |
| २१७ | तेज | | |

: १२ :

ओवीसंख्या

विषय

ओवीसंख्या

विषय

अध्याय सतरावा

| | | | |
|-----|--|-----|----------------------------|
| १ | सद्गुरु-वंदन | २३५ | वाङ्मय तप |
| ३७ | शास्त्ररहित श्रद्धेच्या स्वरूपाविषयी अर्जुनाची शंका व प्रश्न | २४४ | मानस तप |
| ६९ | तीन प्रकारच्या श्रद्धांचे वर्णन | २६० | सात्त्विक तप |
| ९३ | सात्त्विकादि श्रद्धेप्रमाणे भक्ति | २६३ | राजस तप |
| १०९ | अशास्त्रीय पूजनाचे स्वरूप | २७५ | तामस तप |
| १४० | त्रिगुणाप्रमाणे आहार, यज्ञ, तप आणि दान | २८६ | सात्त्विक दान |
| १४२ | सात्त्विक आहार | ३०७ | राजस दान |
| १५७ | राजस आहार | ३१७ | तामस दान |
| १७१ | तामस आहार | ३३५ | सत्त्वाचे महत्त्व |
| १८८ | सात्त्विक यज्ञ | ३५५ | ॐ तत् सत् चे महत्त्व |
| २०४ | राजस यज्ञ | ३८९ | ॐ चा कर्मांमध्ये विनियोग |
| २०८ | तामस यज्ञ | ४०१ | तत् चा कर्मांमध्ये विनियोग |
| २२० | शारीरिक तप | ४१४ | सत् चा कर्मांमध्ये विनियोग |
| | | ४५१ | अश्रद्धेने अहित |

अध्याय अठरावा

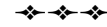
| | | | |
|-----|---|-----|---------------------------------|
| १ | सद्गुरु-स्तवन | १४५ | नित्यनैमित्तिक कर्म अवश्य करावी |
| ४६ | अठराव्या अध्यायाचे महत्त्व व गीतेवरील मंदिराचे रूपक | १५१ | कर्मफलत्याग |
| ७१ | गीतेमध्ये एकच सिद्धांत सांगितला आहे | १६१ | कर्मत्यागाविषयीचा विवेक |
| ८१ | अठराव्या अध्यायाचा उपक्रम | १७५ | यज्ञ-दान-तपादि कर्म टाकू नयेत |
| ९७ | कृष्णाला बोलते ठेवण्यासाठी अर्जुनाचा प्रश्न | २०६ | तामस त्याग |
| ११२ | त्याग-संन्यासाविषयी अर्जुनाचा प्रश्न | २१२ | राजस त्याग |
| ११५ | त्याग-संन्यासाचे स्वरूप | २२९ | सात्त्विक त्याग |
| ११९ | नित्यनैमित्तिकादि कर्म | २४९ | देह असेतो कर्मत्याग शक्य नाही |
| | | २६७ | कर्मांचे त्रिविध फल |
| | | ३०३ | ज्ञान-प्रधान संन्यास |
| | | ३२० | कर्मांची पांच कारणे |

: १३ :

| ओवीसंख्या | विषय | ओवीसंख्या | विषय |
|-----------|--|-----------|---|
| ३६४ | अधिष्ठान | ८६० | सात्त्विक सुख |
| ३७० | कर्ता | ८७८ | राजस सुख |
| ३७७ | करण | ८९३ | तामस सुख |
| ३८२ | चेष्टा | ८९८ | सर्व त्रिगुणांनी व्याप्त आहे |
| ३९६ | दैव | ९०५ | ब्राह्मणादि चार वर्ण |
| ४०७ | शरीरादिकडून होणाऱ्या सर्व न्याय-अन्याय कर्माला अधिष्ठानादि पांच हेच हेतू असतात | ९२२ | ब्राह्मणकर्म |
| ४३३ | आत्म्याला कर्ता समजणे चूक | ९४८ | क्षत्रियकर्म |
| ४६५ | वृत्ति निरहंकार व बुद्धि निर्लेप असली की कर्म बाधत नाही | ९७४ | वैश्य-शूद्रकर्म |
| ५१९ | ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय ही कर्माची प्रेरणा | ९७९ | वर्णाप्रमाणे कर्म करण्यातच सिद्धि |
| ५५८ | कर्ता-क्रिया-करण ही कर्माची सामुग्री | १०१० | स्वधर्माचरण हीच ईश्वराची पूजा |
| ५७७ | ज्ञान कर्म कर्त्याचे त्रिगुण-भेद | १०२७ | स्वधर्माचरण हेच श्रेष्ठ |
| ५९१ | सात्त्विक ज्ञान | १०४० | स्वकर्म कोणत्याहि स्थितीत सोडू नये |
| ६०४ | राजस ज्ञान | १०५९ | बुद्धि आसक्त नसली म्हणजे नैष्कर्म्य सिद्धि लाभते |
| ६१६ | तामस ज्ञान | १११४ | पूर्ण ब्रह्म होण्याचा क्रम |
| ६५४ | सात्त्विक कर्म | ११६३ | साधन मार्गातील अहंकारादि शत्रू |
| ६६३ | राजस कर्म | ११९५ | पूर्णतेजवळ येताच साधकाचे साधन सुटते |
| ६७९ | तामस कर्म | १२१० | ब्रह्मप्राप्तीची अंतिम स्थिति |
| ७०० | सात्त्विक कर्ता | १२५८ | ज्ञान तेच भक्ति |
| ७१८ | राजस कर्ता | १२५९ | श्रेष्ठ भक्तीचे स्वरूप |
| ७६० | बुद्धि आणि धृतीचा त्रिगुण भेद | १३१८ | ब्रह्मस्थिति |
| ७७१ | तामस कर्ता | १३६२ | क्रमयोगाची महति |
| ७७२ | सात्त्विक बुद्धि | १३७५ | गीतेची महति |
| ७९४ | राजस बुद्धि | १३९० | गीतेचा मुख्य विषय |
| ८०१ | तामस बुद्धि | १३९४ | क्रमयोग्याला प्राप्त होणारी अंतिम स्थिति |
| ८११ | सात्त्विक धृति | १४१० | सर्व कर्म व चित्त ईश्वरार्पण करावे |
| ८२५ | राजस धृति | १४२६ | अहंकाराने ऐकले नाहीस तर नष्ट होशील |
| ८३० | तामस धृति | १४३६ | स्वभावाप्रमाणे कर्म घडतेच |
| ८५४ | त्रिविध सुख | | |

: १४ :

| ओवीसंख्या | विषय | ओवीसंख्या | विषय |
|-----------|--|-----------|---|
| १४५१ | ईश्वर हृदयात राहून सर्वांचा प्रेरक होतो | १७६० | अर्जुन मोह नष्ट झाला असे सांगतो |
| १४७५ | सर्वभावाने ईश्वरास शरण जावे | १७८७ | कृष्णार्जुनांच्या संवादाने संजय आनंदित झाला |
| १४८२ | गीतेची महति | १७९३ | धृतराष्ट्रावर गीतेचा परिणाम नाही |
| १४९६ | अर्जुनाचे साभिप्राय मौन | १७९६ | संजयाला झालेले कृष्णार्जुन-प्रेमाचे दर्शन |
| १५२० | सर्वभावाने ईश्वरभक्ति करावी हेच गुह्यज्ञान | १८१२ | संजयाच्या ठिकाणी अष्टसात्त्विक भाव प्रगट झाले |
| १५४० | कृष्ण अर्जुनाची शपथ घेतात | १८३५ | धृतराष्ट्राचा संजयास प्रश्न |
| १५६६ | सर्व धर्म सोडून ईश्वराला शरण जावे | १८४३ | संजयाचे धृतराष्ट्राला उत्तर |
| १५९६ | कृष्णाने अर्जुनास आलिंगन दिले | १८७७ | गीतेच्या शेवटच्या श्लोकाचे महत्त्व |
| १६०७ | गीतेची महति | १८८३ | गीतेतील श्लोकांचे स्वरूप |
| १६१५ | गीतेमध्ये वेदाचे कर्म-कांड | १९०७ | गीता कृष्णाची वाङ्मयमूर्ति आहे |
| १६२८ | गीतेमधील उपासना कांड | १९१२ | गीतेची महति |
| १६३१ | गीतेतील ज्ञानकांड | १९४१ | श्रीज्ञानेश्वरांचा विनय |
| १६३६ | गीता ही गोजिरवाणी श्रुतीच आहे | १९७४ | ज्ञानेश्वरीचे महत्त्व |
| १६४४ | गीतेचे श्रेष्ठत्व | १९९५ | श्रीज्ञानेश्वरांची परंपरा |
| १६६९ | संप्रदायावाचून गीताध्ययन करू नये | २००७ | निवृत्तिनाथांनी सर्वजनावर कृपा केली तोच हा ग्रंथ |
| १६८१ | गीताध्ययनाचा संप्रदाय | २०११ | संतांचा अनुनय |
| १७०७ | गीता शिकविणारा कृष्णाला अत्यंत प्रिय | २०४५ | पसायदान |
| १७२१ | गीतेचे अध्ययन करणारा कृष्णाला आवडतो | २०५९ | ज्ञानेश्वरीचा ज्ञानदेवकृत उपसंहार |
| १७२४ | गीताध्ययनाचे फळ | २०७३ | अनुवाद कर्त्यांचा उपसंहार |
| १७३७ | तू गीता ऐकलीस ना ? असा कृष्णाचा अर्जुनास प्रश्न | | |
| १७५३ | अर्जुनाच्या ठिकाणी अष्टसात्त्विक भाव प्रगट झाले | | |



: १५ :

ज्ञानेश्वरांची ज्ञानेश्वरी । जी गीतार्थबोधन-चातुरी ।
 आनंदसागरीची लहरी । प्रगटली लोककल्याणार्थ ॥ ६ ॥
 परी कालभेदे करून । तिचे न होतें आकलन ।
 जिज्ञासू जनाकारण । जुनेपणानें भाषेचिया ॥ ७ ॥
 म्हणोनि ज्ञानेश्वरीचा । प्रचलित भाषेमध्ये साचा ।
 अनुवाद तो करावयाचा । हेतु मनी धरिला असे ॥ ८ ॥
 तो तुझ्या प्रसादानें । सिद्धी जावो पूर्णपणें ।
 हेंच आहे मागणें । तव पायां विठुला ॥ ९ ॥
 श्रीज्ञानेश्वर चरणासी । वंदन करितों अष्टांगेसी ।
 महाराज या लेंकरासी । चालवावे धरुन करी ॥ १० ॥
 आपली भावार्थदीपिका । ब्रह्मानंदमंदीर-पताका ।
 प्रयत्नाभावीं सामान्य लोकां । दुर्बोध वाटूं लागली ॥ ११ ॥
 यास्तव तिचा भाषानुवाद । करावया मी झालों सिद्ध ।
 कृपेनें आपुला कर वरद । माझिया शिरीं ठेवावा ॥ १२ ॥
 रामदासादि संतांसी । तैसें वामन पंडितांसी ।
 नमन सद्गुरु चरणांसी । प्रेमादरानें अर्पितो ॥ १३ ॥
 मायबाप तुमचें लेंकरुं । रिघालें दुर्गम रानीं चरुं ।
 त्याची उपेक्षा नका करुं । हेंचि आहे मागणें ॥ १४ ॥
 मी तरी माझी दुर्बलता । जाणून आहे तत्त्वतां ।
 परी स्नेह्यांच्या आग्रहाकरितां । या भरीला पडलोंसे ॥ १५ ॥
 ज्ञानेश्वरीचें चिंतन । सांग घडेल येणेंकरून ।
 अनुवादासी म्हणून । उद्युक्त झालों नम्रपणें ॥ १६ ॥

आपुला आशीर्वाद असावा । धरिला हेत सिद्धीस जावा ।
 ज्ञानेश्वरीचा वाढावा । लोकीं प्रेमा या यत्नें ॥ १७ ॥
 आरंभ करितों लेखना । सतत द्यावी प्रेरणा ।
 आलस्य आणि अज्ञाना । मजपुनी दूर ठेवावे ॥ १८ ॥
 ॐ नमोजी आद्या । वेद प्रतिपाद्या ।
 जयजय स्वसंवेद्या । आत्मरूपा ॥
 १ ॐकारा आत्मस्वरूपा । हे विश्वाच्या मायबापा ।
 सर्व वेद तुझिया प्रतापा । वाखाणिती विनयानें ॥ १९ ॥
 तूं सर्व सृष्टीच्या आर्धी । ऐशी तुझी प्रसिद्धी ।
 अंगासह सर्व वेदीं । प्रतिपादन आहे तुझें ॥ २० ॥
 तूं आपण आपणासी । जाणावया समर्थ होसी ।
 हे परमात्मरूपा तुजसी । वारंवार नमन असो ॥ २१ ॥
 तुझा असो जयजयकार । सर्वत्र सर्वदा निरंतर ।
 नमन माझें वरचेवर । सर्वव्यापका असो तुला ॥ २२ ॥
 देवा तूच अससी गणेश । सर्वांच्या बुद्धीचा प्रकाश ।
 म्हणती श्रीनिवृत्तिदास । स्तवन माझें ऐका हें ॥ २३ ॥
 शब्दब्रह्म जी वेदश्रुति । तीच तुझी मंडित मूर्ति ।
 वर्णरूपें अंगकांति । निर्दोषपणें मिरविते ॥ २४ ॥
 अंगें पहा सुंदर किती । अवयव जे त्या नाना स्मृति ।
 अर्थ-सौंदर्यें शोभती । लावण्याची खाण जणूं ॥ २५ ॥
 अठरा जीं महापुराणें । तेच रत्नखचित दागिने ।
 सिद्धांतरत्नासि कोंदणें । शोभती छंदोबद्धतेची ॥ २६ ॥



शब्दरचना सरस रसाळ । तें रंगीत वस्त्र अंगावरील ।
 अलंकार जे काव्यांतील । झळाळती ते तंतुरूपे ॥ २७ ॥
 विचार करितां सकौतुक । जे कां काव्य आणि नाटक ।
 त्या घागऱ्या गमती अनेक । गणेशाच्या मेखलेच्या ॥ २८ ॥
 त्यांची रुणझुण मंजुळ । तो अर्थरूप ध्वनि कोमल ।
 आणि कुशलता तयांतील । विचारीं घेता सूक्ष्मतेनें ॥ २९ ॥
 तत्त्वे त्यांत गोविलेलीं । मधून मधून जीं चांगलीं ।
 ती रत्नें जडविलेलीं । शोभतीं त्या मेखलेसी ॥ ३० ॥
 व्यासादींची प्रतिभा-पूर्ण । ग्रंथरचना जी निपुण ।
 तो शेला शोभायमान । कटीस कसला गणेशानें ॥ ३१ ॥
 त्याचे ते कांठपदर । असती तेजस्वी सुंदर ।
 कसून सोडिल्या सोग्यावर । झळकती ते शोभेनें ॥ ३२ ॥
 सहा दर्शनें ज्यांना म्हणती । ते गणेशाचे हात असती ।
 भिन्न भिन्न मतांचीं शोभतीं । आयुधें त्या हातामधें ॥ ३३ ॥
 ११ न्यायशास्त्र गौतम प्रणीत । तो गणेशाचा एक हात ।
 तर्काचा परशू तयांत । धरिला खंडण्या भ्रांत मते ॥ ३४ ॥
 कणादे केले निर्माण । तें वैशेषिक दर्शन ।
 नीतिभेदांचें वर्णन । अंकुश धरिला त्या हातीं ॥ ३५ ॥
 व्यासांनीं प्रतिपादिलेलें । उत्तरमीमांसाशास्त्र भलें ।
 त्या हातीं धारण केले । वेदांत या मोदकासी ॥ ३६ ॥
 जो वेदांतरूपी मोदक । ब्रह्मरसें अलौकिक ।
 अक्षर्यांचे निर्मळ सुख । मिळे सेवितां ज्यालागीं ॥ ३७ ॥



शून्यवादाचें बौद्धमत । जे स्वभावतः असें खंडित ।
 तोच जणूं मोडका दंत । सेश्वर-सांख्यशास्त्र-करीं ॥ ३८ ॥
 कापिल सांख्यांचा सत्कार्यवाद । तो कमलासम हात वरद ।
 जैमिनीची मीमांसा प्रसिद्ध । अभयदायी हात शोभे ॥ ३९ ॥
 आत्मानात्म सारासार । यांचा जो अखंड विचार ।
 तो शुद्ध विवेक ही थोर । सरळ सोंड गणेशाची ॥ ४० ॥
 ज्या विवेक शुंडेठार्या । ब्रह्मानंद अक्षय्य राही ।
 जेथें वास करतें होई । सर्वश्रेष्ठ आत्मसुख ॥ ४१ ॥
 ज्ञान मिळविण्याकारण । जो संवाद येतो घडून ।
 तोच येथें गजानन । दंतरूपें धारण करी ॥ ४२ ॥
 पक्षपातानें विरहित । समत्वबुद्धि न्यायोचित ।
 तीच या स्थलीं शोभत । शुभ्र कांती दातांची ॥ ४३ ॥
 सूक्ष्मांत सूक्ष्म म्हणून । जें प्रसिद्ध अद्वैत ज्ञान ।
 तेच शोभताती नयन । बारीक येथें गणेशाचे ॥ ४४ ॥
 पूर्वं उत्तर मीमांसा दोन्ही । शोभती कानाच्या ठिकाणीं ।
 ऋषीमुनी भ्रमर होऊनी । मदा सेविती बोधरूपा ॥ ४५ ॥
 द्वैत आणि अद्वैत । हीं गंडस्थळें शोभिवंत ।
 एकवटून राहतात । शिरोभार्गी गणेशाच्या ॥ ४६ ॥
 तत्त्वे सर्व शास्त्रांतली । हींच तेजस्वी पोवळी ।
 त्यांची माळ गुंफिलेली । मस्तकीं रुळे ते ठार्या ॥ ४७ ॥
 ईशादि उपनिषदे दहा । ज्ञानमथानें उदार महा ।
 पुष्परूपानें तीं पहा । विराजती मुगुटावरी ॥ ४८ ॥

अकार उकार मकार । या तीन वर्णांचा ॐ कार ।
 तोच येशें गणेशाकार । स्वरूपानें स्तविला असे ॥ ४९ ॥
 अकार त्याचें चरण युगुल । उकार हें उदर विशाल ।
 मस्तक जें भव्य वर्तुळ । मकाररूपें जाणा तें ॥ ५० ॥
 एकवटतां मात्रा तिन्ही । सर्व वेद ये आकळुनी ।
 वंदिलें मी गुरुकृपेनी । त्या बीजभूत ॐकारा ॥ ५१ ॥
 २१ आतां वाङ्मयाची अभिनव । जी क्रीडा करते सदैव ।
 चातुर्य अर्थ कला हे सर्व । जिच्या कृपेचें फळ आहे ॥ ५२ ॥
 ती वाग्देवता सरस्वती । नमन माझें तिजप्रति ।
 जी या सर्व जगताप्रति । मोहून टाकी प्रभावानें ॥ ५३ ॥
 ज्यांनीं भवसागरीं तारिलें । ते सद्गुरू हृदयीं वसले ।
 म्हणून माझें प्रेम जडलें । विवेकावरी विशेषानें ॥ ५४ ॥
 डोळ्यासि भेटतां अंजन । समर्थ होती जसे नयन ।
 मग हवें तेशें गुप्तनिधान । दृष्टीपुढें प्रगट होई ॥ ५५ ॥
 वा चिंतामणी हातीं येतां । होते मनोरथांची पूर्तता ।
 तैसा ज्ञानदेव मी आतां । पूर्णकाम निवृत्तिबळें ॥ ५६ ॥
 म्हणोनि जाणत्यानें सद्गुरूसी । भजावें कीं अहर्निशीं ।
 तेणें कृतकृत्यता तयासी । सहजपणानें लाभेल ॥ ५७ ॥
 जैसें वृक्षाचें केवळ । जलानें सिंचितां मूळ ।
 फांद्या पानासह सकल । वृक्ष होतो टवटवीत ॥ ५८ ॥
 समुद्रावरी करितां स्नान । सर्व तीर्थांचें लाभे पुण्य ।
 रसास्वाद लाभती पूर्ण । चाखितां एका अमृतासी ॥ ५९ ॥

तेवी वारंवार सद्गुरूसी । नमस्कारिलें मी आदरेंसी ।
 जे माझिया मनोरथासी । पूर्ण करिती कृपेनें ॥ ६० ॥
 आतां ऐकावी कथा गहन । जी सर्व कौतुकाचें जन्मस्थान ।
 वा विवेक वृक्षांचें उद्यान । अभिनवपणें जें शोभे ॥ ६१ ॥
 जी सर्व सुखा निर्मिते । विविध सिद्धांता सांठविते ।
 जी नवरसांच्या अमृते । भरलेला सागर असे ॥ ६२ ॥
 मोक्षरूप जी उघडपणें । सर्व विद्या निर्मिल्या जिनें ।
 सर्वशास्त्रीं निजगुणानें । श्रेष्ठ स्थानीं शोभते जी ॥ ६३ ॥
 ३१ जी सकल धर्मांचें माहेर । जिचा सज्जना जिव्हाळा फार ।
 सौंदर्यरत्नाचें भांडार । सरस्वतीच्या आहे जी ॥ ६४ ॥
 वा जिच्या रूपें या जगतीं । प्रगट झाली सरस्वती ।
 व्यासमहर्षी महामति । स्फुरोनि त्यांच्या प्रज्ञेमधें ॥ ६५ ॥
 ती कथा महाभारत । काव्यांचा राजा शोभत ।
 ग्रंथांचिया महतीप्रत । उत्कर्ष लाभला ये ठायीं ॥ ६६ ॥
 रसाळपण रसा आलें । शब्द सत्य-शास्त्र बनले ।
 ब्रह्मज्ञान कोमल झालें । टाकून येशें कठिणता ॥ ६७ ॥
 येथ सिद्धांता गोडी आली । चतुरता शाहणी झाली ।
 आणि पुष्टता लाभली । ऐश्वर्यासी सुखाचिया ॥ ६८ ॥
 गोडीचा गोडवा वाढे । शृंगाराला साज चढे ।
 आणि उचित जे त्याला घडे । आचरणाचा लाभ इथें ॥ ६९ ॥
 कुशलता लाभली कलांना । पुण्यासी ये समर्थपणा ।
 तेणें याच्या करितां श्रवणा । जनमेजयाचे दोष गेले ॥ ७० ॥



सहज वाचितां अक्षरें । आनंदासी रंग भरे ।
 येथ सद्गुणाचा विस्तारे । विशेषचि चांगुलपणा ॥ ७१ ॥
 जेवीं सूर्यप्रकाशें करून । त्रैलोक्य जातसें उजळून ।
 तेवीं व्यासबुद्धीचें आकलन । शोभा वाढवी विश्वाची ॥ ७२ ॥
 वा सुपीक शेतीं पेरिलेले । बीज बहरते चांगलें ।
 तेवीं चारही विकासले । महाभारतीं पुरुषार्थ ॥ ७३ ॥
 *१ किंवा राहतां नगरांत । मनुष्य टापटिपीचा होत ।
 तैसें सर्व झालें सुसंस्कृत । व्यासोक्तीच्या तेजानें ॥ ७४ ॥
 स्त्रीसौंदर्य बहरा येत । येतां तारुण्यअवस्थेंत ।
 प्राप्त होतां ऋतु वसंत । शोभा वाढे वनश्रीची ॥ ७५ ॥
 किंवा कांबी सुवर्णाची । दिसे सामान्य स्वरूपाची ।
 परी दागिने घडतां तिची । शोभा होते आकर्षक ॥ ७६ ॥
 तेवीं व्यासप्रतिभेचा स्पर्श । सौंदर्या चढवी भलत्यास ।
 हें जाणोनिया इतिहास । आश्रयासी येथ आला ॥ ७७ ॥
 वा प्रतिष्ठा लाभण्या पूर्ण । अंगी धरून लहानपण ।
 प्रवेशलीं रूपें-उपाख्यान; । महाभारती पुराणे तीं ॥ ७८ ॥
 म्हणून महाभारतीं जें नाहीं । तें न तिन्ही लोकांतही ।
 याकारणें म्हणती पाही । 'व्यासोच्छिष्टं जगत्त्रयम्' ॥ ७९ ॥
 रसाळकथा ही ऐशी । जी जन्मभू परमार्थासी ।
 ती श्रीवैशंपायन ऋषि । कथिती नृपा जनमेजया ॥ ८० ॥
 पहा हें महाभारत । अद्वितीय श्रेष्ठ अत्यंत ।
 ज्याच्या पवित्रपणाप्रत । उपमा नुरली कोणतीही ॥ ८१ ॥



जें सर्वही मांगल्याचें । स्थान असें राहण्याचें ।
 तें ऐकण्याठायी तुमचें । सर्वदा असो अवधान ॥ ८२ ॥
 आतां भारतकमलांतील । परागरूप जो कोमल ।
 गीता या नांवें सकल । जाणती ज्या विषयासी ॥ ८३ ॥
 जो विषय भगवंतानीं । संवादाच्या स्वरूपांनीं ।
 उपदेशिला कृपेनीं । भक्तश्रेष्ठ अर्जुनासी ॥ ८४ ॥
 *१ वा वेदसागर संपूर्ण । व्यासबुद्धीनें घुसळून ।
 निःसीम काढिलें त्यांमधून । महाभारतरूप लोणी ॥ ८५ ॥
 तें ज्ञानाग्निवरीं ठेविलें । आणि विवेकानें कढविलें ।
 ये तया या कृतीमुळें । सुवास साजुक तुपाचा ॥ ८६ ॥
 लोक वैराग्यानें भरित । त्याची अपेक्षा करितात ।
 सदा अनुभव घेत संत । राहती ज्या विषयाचा ॥ ८७ ॥
 पार पावलेले जे ज्ञानी । 'तेंच मी' या भावनेनीं ।
 ज्या विषयांत पूर्णपणीं । रंगोनिया जातात ॥ ८८ ॥
 भक्त जिचें करिती श्रवण । विश्वा योग्य करण्या वंदन ।
 भीष्मपर्वांमधें वर्णन । केलें गेलें आहे जिचें ॥ ८९ ॥
 भगवद्गीता तिला म्हणती । जी ब्रह्मा शंकर वाखाणिती ।
 सनकादिकही सेविती । आदरभावे गीता जी ॥ ९० ॥
 शरदाच्या चांदण्यांतले । अमृतकण जे कोंवळे ।
 मार्दवे ते वेंची भले । चकोराचें तान्हे जसें ॥ ९१ ॥
 त्याचपरी ही श्रोत्यांनीं । अति हळुवारपणा धरूनि ।
 शुद्ध कोमल अंतःकरणीं । भगवद्गीता अनुभवावी ॥ ९२ ॥



शब्दावांचून चर्चावी । इंद्रियां न कळतां भोगावी ।
 बोलाआधीं आकळावीं । प्रमेयें या गीतेतलीं ॥ ९३ ॥
 जैसे भ्रमर पराग नेती । परी कमळदळें ते नेणती ।
 त्याचपरी असावी रीती । या ग्रंथाच्या सेवनाची ॥ ९४ ॥
 आपुलें ना सोडता स्थान । चंद्रास द्यावे आलिंगन ।
 प्रेमभोगी चतुरपण । ऐसें जाणें कुमुदिनी ॥ ९५ ॥
 ६१ तैसें ज्याचें अंतःकरण । स्थिर गंभीर प्रसन्न ।
 त्यासी गीतेतलें ज्ञान । जाणावया येईल हें ॥ ९६ ॥
 अर्जुनाचिया समान । ज्या अधिकार करण्या श्रवण ।
 त्यां संतांनी कृपा करून । लक्ष द्यावें याठायीं ॥ ९७ ॥
 मी सलगीनें ऐसें म्हटले । चरणा लागून विनविलें ।
 महाराज हृदय आपुलें । गंभीर आहे म्हणोनिया ॥ ९८ ॥
 हा स्वभाव मायबापांचा । कीं मूल बोललें बोबडी वाचा ।
 तरी अधिकचि तयांचा । तेणें वाढतो संतोष ॥ ९९ ॥
 तैसें तुम्ही मज स्वीकारलें । संतांनी म्हटलें आपुलें ।
 म्हणून माझ्या हातून झालें । उणें येथे जरी कांही ॥ १०० ॥
 तरी सहजस्वभावे करून । ते तुम्ही कराल सहन ।
 त्यासाठी आवर्जून । नको प्रार्थना करावया ॥ १०१ ॥
 परी अपराध या ठायीं । माझा वेगळाच असे कांही ।
 जो मी येथ करूं पाही । गीतार्थाचें आकलन ॥ १०२ ॥
 म्हणून केली असे चरणी । लक्ष द्यावे ही विनवणी ।
 तेणें धीर वाटेल मनीं । गीतेचा अर्थ सांगण्याचा ॥ १०३ ॥



हीं कामें ना झेपणारीं । हें ही न आणितां विचारीं ।
 तें साहस करण्या परी । प्रवृत्त झालों व्यर्थ मी ॥ १०४ ॥
 पाहतां वास्तविकपणें । जेथ सूर्याचे प्रकाशणें ।
 तेथ काय काजव्यानें । शोभा आपुली मिरवावी ॥ १०५ ॥
 किंवा सागरा टिटिवीनें । उपशीन म्हणावे चोंचीनें ।
 त्यापरीच मी अज्ञानें । मनीं धरिलें हें काम ॥ १०६ ॥
 अहो आकाशा कवळावें । तरी त्याहून मोठें व्हावें ।
 म्हणोनि हें कार्य बरवें । माझ्या शक्तीबाहेरचें ॥ १०७ ॥
 या गीतार्थाची महती । स्वयें शंकर सांगती ।
 जेव्हां विचारी पार्वती । कुतूहलानें तयांना ॥ १०८ ॥
 ७१ तयीं तिज म्हणती शंकर । जेवीं तव सौंदर्य अपार ।
 देवी, तैसेंच हें साचार । नित्य नवीन गीतातत्त्व ॥ १०९ ॥
 विस्तार सर्वही वेदांचे । घोरणें ज्या झोपलेल्याचें ।
 बोलणें त्या सर्वेश्वराचें । गीता आहे प्रत्यक्ष ॥ ११० ॥
 ऐशी थोर जिची महती । जेथ वेदही वेडावती ।
 तेथें सामान्य मंदमति । काय करूं शकेन मी ॥ १११ ॥
 अपारा कैसें आकळावें । सूर्यासी केवीं उजळावें ।
 काय मुठीत धरण्या जावें । आकाशासी चिलटानें ॥ ११२ ॥
 परी मज यावया धीर । येथ एक आहे आधार ।
 कीं अनुकूल श्रीगुरुवर । ऐसें म्हणती ज्ञानदेव ॥ ११३ ॥
 वस्तुतः जरी मी मूर्ख । हातून घडतो अविवेक ।
 तरी पुढें मार्गदर्शक । संतकृपेचा दीप आहे ॥ ११४ ॥



सुवर्ण करावें लोहासी । हें सामर्थ्य परिसापाशीं ।
 जिवंत करतां ये मृतासी । प्राप्ती होतां अमृताची ॥ ११५ ॥
 प्रगट होता सरस्वती । बोलतां ये मुक्याप्रति ।
 ही वस्तूची सामर्थ्यशक्ति । आश्चर्य तेथ काय आहे ॥ ११६ ॥
 कामधेनू ही ज्याची आई । त्यासी अप्राप्य कांही नाहीं ।
 म्हणून या ग्रंथाठायीं । मीही झालों प्रवृत्त ॥ ११७ ॥
 आतां घडेल जें जें न्यून । तें तें करून घ्यावें पूर्ण ।
 अधिक होतां मजलागुन । क्षमा त्याची करावी ॥ ११८ ॥
 ८१ हीच आपणा विनवणी । करितों मी नम्रतेनीं ।
 आतां आपण सज्जनांनीं । लक्ष मजवरी ठेवावें ॥ ११९ ॥
 तुम्ही जैसें बोलवाल । तैसेंच मी बोलेन बोल ।
 बाहुलीच्या चेष्टा सकल । सूत्राधारे चालताती ॥ १२० ॥
 सद्गुरूंचा अनुगृहीत । संतांचा मी असे दूत ।
 आतां आपण मजप्रत । भूषवावें हवें तसें ॥ १२१ ॥
 तेव्हां श्री सद्गुरु म्हणाले । थांब, बोलावें असें नुरलें ।
 आतां तूं चित्त आपुलें । त्वरें देईं ग्रंथाकडे ॥ १२२ ॥
 ऐसें श्रीगुरु बोलतां । निवृत्तिदास हर्षले चित्ता ।
 म्हणती मोकळ्या मनें आतां । ऐकावे मी बोलतो तें ॥ १२३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
 मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

: १२ :



पुत्रांच्या स्नेहानें मोहित । धृतराष्ट्र असें विचारित ।
 म्हणे संजया सांगे वृत्त । कुरुक्षेत्रीं घडलें जें ॥ १२४ ॥
 धर्मक्षेत्र ज्याला म्हणती । तेथें युद्ध करण्याप्रति ।
 दोघे पुत्र जमले असती । माझे आणि पंडूचे ॥ १२५ ॥
 तरी तेथें परस्पर । कैसा घडतसे व्यवहार ।
 तें सर्वही झडकर । तुंवा मजसी सांगावें ॥ १२६ ॥

सज्जय उवाच ।

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
 आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

ते वेळीं संजयें म्हटलें । पांडव सैन्य सज्ज झालें ।
 जणूं कृतांतानें पसरलें । मुख आपुलें प्रलयकालीं ॥ १२७ ॥
 तैसें घनदाट तें सैन्य । उभें राहिलें एकवटून ।
 हालाहल येतां उसळून । कोण आवरूं शकतो त्या ॥ १२८ ॥
 वा वडवाग्नि पेटला । प्रलयवातें भडकला ।
 सागरा शोषून झेपावला । वाटते जेवीं आकाशीं ॥ १२९ ॥
 ९१ तैसें सैन्य तयीं दुर्धर । व्यूह रचून झालें तत्पर ।
 त्या योगाने भयंकर । अधिक दिसूं लागलें तें ॥ १३० ॥
 परी पाहून तयाप्रति । दुर्योधन न करी क्षिती ।
 जैसें कळपानें येतां हत्ती । सिंह न मोजी तयांना ॥ १३१ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
 व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

: १३ :

मग द्रोणांच्या जवळ आला । आणि तयांसी म्हणाला ।
 पहा कैसा हा उसळला । पांडवांचा दळभार ॥ १३२ ॥
 गिरि दुर्ग जैसे चालती । तैसे विविध व्यूह भोंवती ।
 केली जयांची रचना ती । शाहण्या द्रुपदपुत्रानें ॥ १३३ ॥
 ज्यास तुम्हीच शिकविलें । विद्या देऊन तज्ञ केलें ।
 त्यानेंच पहा उभारिलें । पांडव-सैन्य सिंहासम ॥ १३४ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।

युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

आणिकही असाधारण । जे शस्त्रास्त्रामधें प्रवीण ।
 क्षात्रधर्मांमधें निपुण । वीर, सैन्यांत असती त्या ॥ १३५ ॥
 शौर्य, शक्ती, थोरवीनें । जे भीमार्जुनाप्रमाणे - ।
 आहेत, त्यांचीं कौतुकानें । नांवे सांगतो यावेळीं ॥ १३६ ॥
 युयुधान वीरवर । तेवीं विराट आला थोर ।
 आणि पांडवांचा श्वशुर । महारथी द्रुपद आहे ॥ १३७ ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।

पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।

सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

धृष्टकेतु चेतितान । काशिराजा वीर महान् ।
 उत्तमौजा सुलक्षण । शैब्य येथ आहे पहा ॥ १३८ ॥
 कुंतिभोज हा येथ पाहे । युधामन्यु आला आहे ।
 आणि पुरुजितादि सर्व हे । राजे पहा उभे येथें ॥ १३९ ॥

१०१ सुभद्रेचा हृदयनंदन । जो दुसरा अर्जुन तरुण ।
 अभिमन्यु, तो दुर्योधन-। म्हणे, पहा द्रोणाचार्या ॥ १४० ॥
 द्रौपदीचे पुत्र इतर । जे सकल महारथी वीर ।
 ऐसें न जाणें किती अपार । सैन्य जमलें पांडवांचें ॥ १४१ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।

नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।

अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

आतां आमुच्याही सैन्यांत । प्रमुख वीर जे विख्यात ।
 त्यांचींही आपणाप्रत । नांवे सांगतो ओघानें ॥ १४२ ॥
 तुम्ही आणि तुमच्याप्रमाणें । प्रमुख वीर जे शौर्यानें ।
 त्यांतील कांहींचें नांवांनें । करितों मी दिग्दर्शन ॥ १४३ ॥
 हा भीष्म गंगेचा नंदन । जो प्रतापे सूर्यासमान ।
 शत्रूरूपी हत्तीकारण । सिंहासम तो वीर कर्ण ॥ १४४ ॥
 या एकेकांच्या इच्छेनुसार । जग निपजें वा होतो संहार ।
 कृपाचार्यही खरोखर । एकटा पुरे त्यासाठीं ॥ १४५ ॥
 विकर्ण वीर येथें आहे । अश्वत्थामा तिकडे पाहे ।
 ज्याचा धाक सदा वाहे । यमही आपुल्या चित्तांत ॥ १४६ ॥
 समितिंजय सौमदत्ती । ऐसे आणिक बहु असती ।
 ज्यांची शक्ती असे किती । तें न जाणें विधाताही ॥ १४७ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।

नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

शस्त्रविद्येत पारंगत । मंत्रांचे अवतार मूर्त ।
यांच्यापासून प्रचारांत । अस्त्रे पहा सर्व आलीं ॥ १४८ ॥
हे योद्धे अद्वितीय । अंगीं यांच्या पुरे शौर्य ।
तरी अर्पिण्या सिद्ध काय । जीवासकट माझ्यास्तव ॥ १४९ ॥
१११ पतिव्रतेचें अंतःकरण । जाणें न पतीवांचून ।
तैसें या वीरांकारण । मीच आहे सर्वस्व ॥ १५० ॥
करितां आमुच्या कार्यासी । तुच्छ मानिती जीवितासी ।
ऐसे हे निर्मळ मानसीं । निःसीम पहा स्वामीभक्त ॥ १५१ ॥
युद्धामधें कुशल अति । कौशल्यें जिकिती कीर्ति ।
क्षात्रधर्म, सांगू किति । प्रतिष्ठा पावे यांच्यामुळें ॥ १५२ ॥
ऐसे सर्व दृष्टीनें परिपूर्ण । वीर, माझ्या सैन्यांत निपुण ।
यांचें करावें कसें गणन । अपरंपार आहेत हे ॥ १५३ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।

पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

क्षत्रियामाजी श्रेष्ठ वीर । लोकीं विख्यात धनुर्धर ।
त्या भीष्मासी असे अधिकार । सैन्याच्या सेनापतित्वाचा ॥ १५४ ॥
यांनीं सैन्यास नियमिलें । व्यूह जणू दुर्ग रचिलें ।
ज्याच्यापुढें पहा ठरलें । त्रिभुवनही कःपदार्थ ॥ १५५ ॥
आधींच दुस्तर सागर । कोण जाई त्याच्या पार ।
त्यांतून त्यासी दुर्निवार । सहाय्य झाला वडवाग्नि ॥ १५६ ॥
प्रलयान्नि भडके वरी । वादळ त्याचें सहाय्य करी ।
तैसा विशाल सैन्यांतरी । भीष्म आहे सेनापति ॥ १५७ ॥

: १६ :

आतां त्याच्या सैन्यासमोर । कोण उभा ठाकेल वीर ।
पांडव सैन्य असो अपार । तोकडें दिसे ये ठायीं ॥ १५८ ॥
आडदांड भीम त्यांतून । करी सेनेचें संचलन ।
ऐसें आचार्या बोलून । गोष्ट सोडिली मधेंच ती ॥ १५९ ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।

भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

१२१ मग सर्व सैनिकां बाहून । पुन्हां म्हणे दुर्योधन ।
तुम्हीं आपुलालें सैन्य । सज्ज ठेवून असावें ॥ १६० ॥
ज्यासी जी जी अक्षौहिणी । दिली असे विभागुनी ।
ती ती त्या महारथ्यांनीं । रणक्षेत्रीं सांभाळावी ॥ १६१ ॥
आपुले विभाग सांभाळून । करावें भीष्माज्ञेचें पालन ।
द्रोणास म्हणे दुर्योधन । लक्ष सर्वत्र ठेवा तुम्हीं ॥ १६२ ॥
करावें भीष्मांचें संरक्षण । यांसीं मानावें मजसमान ।
आमुच्या सैन्याचें जीवन । निर्भर आहे यांच्यावरी ॥ १६३ ॥

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।

सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

या राजाच्या भाषणांनीं । संतोष पावला सेनानी ।
मग केला त्या भीष्मांनीं । थोर असा सिंहनाद ॥ १६४ ॥
ती गर्जना दुमदुमत । राहिली दोन्ही सैन्यांत ।
त्याचा प्रतिध्वनि अद्भुत । न मावता उठे पुन्हां ॥ १६५ ॥
आणि त्या प्रतिध्वनिसवें । वीरवृत्तीच्या स्फूर्तिभावं ।
वाजविला श्रीभीष्मदेवें । आपुला तो दिव्य शंख ॥ १६६ ॥

: १७ :

ते मिसळतां नाद दोन्ही । त्रैलोक्याच्या दडे कार्नी- ।
 बसले, जणू कोसळोनि । तुटून पडलें आकाश ॥ १६७ ॥
 आकाश सारें धडाडलें । सागरजल उचंबळलें ।
 गांगरून कापू लागलें । सर्व स्थावरजंगम ॥ १६८ ॥
 दरी-खोरीं डोंगरांतलीं । त्या गजरानें कोंदाटलीं ।
 तोंच तेथें वाजू लागलीं । नानाप्रकारीं रणवाद्यें ॥ १६९ ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।

सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

१३१ भयद कर्कश उदंड । ध्वनि ते गाजती अखंड ।
 भल्याभल्यासही वाटे, तोंड । लागलें प्रलयकाळासी ॥ १७० ॥
 डंके ढोल वा नगारे । झांजा, कर्णे, शंख, पुरे ।
 वाजू लागतां त्यांत त्वरें । गर्जना उठती वीरांच्या ॥ १७१ ॥
 आवेशें दंड ठोकित्ती । त्वेषानें आव्हान देती ।
 मदोन्मत्त जाहले हत्ती । आवरती ना कवणासी ॥ १७२ ॥
 तेथ भेकडांची काय गोष्ट । कच्चे ते ठरले कस्पट ।
 यमाचें सुटलें धारिष्ट । उभेही ना ठाकवे त्या ॥ १७३ ॥
 कित्येक उभ्याउभ्या मेले । धीरांचेही दांत मिटले ।
 भयानें कांपू लागलें । तयीं मी मी म्हणणारे ॥ १७४ ॥
 ऐसा अद्भुत भयद ध्वनि । ब्रह्माही दचके ऐकुनी ।
 आणि म्हटलें देवांनीं । कीं हा आला प्रलयकाळ ॥ १७५ ॥
 पाहोनि तो आकांत । ऐसें घडलें स्वर्गांत ।
 इकडे पांडवांच्या सैन्यांत । काय घडलें तें पहा ॥ १७६ ॥

: १८ :

ततः श्रेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।

माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

अर्जुनाचा दिव्यरथ । जणू विजय मूर्तिमंत ।
 महातेजाचें प्रत्यक्षांत । जणू भांडार होता तो ॥ १७७ ॥
 त्यास गरुडाच्या समान । जे असती वेगवान ।
 ऐसें शुभ्र सुलक्षण । चार अश्व जोडलेले ॥ १७८ ॥
 पंखयुक्त मेरू पर्वत । तैसा तो रथ असे शोभत ।
 ज्याचें तेज दशदिशांत । कोंदाटलें गेलें होतें ॥ १७९ ॥
 सारथी ज्या रथावरतीं । स्वयें बैसे वैकुंठपति ।
 त्या रथाची आतां महति । वर्णावी मी कैशापरी ॥ १८० ॥
 १४१ ज्याच्या ध्वजस्तंभावरती । रुद्रावतार मारुती ।
 शाङ्गधर लक्ष्मीपति । सारथी त्या अर्जुनाचा ॥ १८१ ॥
 आश्चर्य प्रभूचें वर्तन । भक्तप्रेम विलक्षण ।
 सर्व थोरवी सोडून । सारथ्य करी अर्जुनाचें ॥ १८२ ॥
 सेवक पाठीशीं घातला । स्वयें आपण पुढें झाला ।
 आणि लीलया फुंकिला । त्यानें आपुला पांचजन्य ॥ १८३ ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।

पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

परी ध्वनि तो गंभीर । गाजत राहे भयंकर ।
 उदया येता भास्कर । जेवीं लोपतीं नक्षत्रें ॥ १८४ ॥
 वाद्यांचे कौरव सैन्यांत । कल्लोळ जे होते उठत ।
 आतां ते कोणते कशांत । हारवले हें उमगेना ॥ १८५ ॥

: १९ :



त्याचप्रमाणें अर्जुनांनं । अतिगंभीर ध्वनीनें ।
 शंख फुंकला मुखानें । आपुला नामें देवदत्त ॥ १८६ ॥
 ते अचाट शब्द दोन्हीं । एकमेकांत मिसळुनी ।
 जणूं ब्रह्मांडा भेदुनी । तुकडे करिती तयाचे ॥ १८७ ॥
 मग तेथें भीमसेनास । कृतांतासम चढे आवेश ।
 पौंड्र नामें निजशंखास । त्यानें फुंकिलें बळानें ॥ १८८ ॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

जणूं प्रलयमेघ गर्जला । तैसा त्याचा ध्वनि झाला ।
 तेव्हां अनन्तविजयाला । युधिष्ठिरानें वाजविलें ॥ १८९ ॥
 नकुलानें सुघोष शंख । सहदेवानें मणिपुष्पक ।
 वाजवितां तेथ देख । गडबडला कृतांतहि ॥ १९० ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।

धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।

सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥

१५१ तेथ नृपति होते अनेक । द्रुपद द्रौपदी-सुतादिक ।
 काशिपति नामें एक । राजा महापराक्रमी ॥ १९१ ॥
 अभिमन्यु अर्जुनसुत । अजिंक्य वीर सात्यकि सत्य ।
 धृष्टद्युम्न जो भूपालांत । श्रेष्ठ, तेवीं शिखंडी तो ॥ १९२ ॥
 विराटादि राजे इतर । तेवीं सैनिक मुख्य वीर ।
 हे सर्वही वरचेवर । शंख वाजवूं लागले ॥ १९३ ॥

: २० :



स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।

नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

त्या प्रचंड गर्जनेनें । घातलेल्या आघातानें ।
 शेष कूर्मांचींही मनें । कांहीं काळ गोंधळलीं ॥ १९४ ॥
 त्यांनीं आपुल्या अंगावर । धारण केला भूचा भार ।
 तोही तयांसी क्षणभर । टाकून द्यावासा वाटला ॥ १९५ ॥
 लोक तिन्हीं डळमळले । मेरु मांदार थरारले ।
 कैलासापर्यंत उसळले । पाणी तेव्हां समुद्राचें ॥ १९६ ॥
 जणूं पृथ्वी पालथी होते । आकाश काय झोके खातें ।
 तेणें नक्षत्रांचा वाटतें । सडा आतां होणार कीं ॥ १९७ ॥
 सृष्टी संपली रे संपली । देवांचीं अधिष्ठानें मोडलीं ।
 अशी एक ओरड झाली । ब्रह्मदेवाच्या लोकांत ॥ १९८ ॥
 सूर्य भयाने थांबला । ऐसा प्रलय ओढवला ।
 तयीं हाहाःकार उडाला । तीन्हीं लोकांत सर्वत्र ॥ १९९ ॥
 आदिपुरुष परमेश्वर । विस्मित झाले तदनंतर ।
 म्हणे काय ओढवणार । अंत यानें सृष्टीचा ॥ २०० ॥
 कोलाहल तो तेवढ्यांत । परी झाला असे शांत ।
 तेणें न होतां युगान्त । विश्व गेलें सांवरलें ॥ २०१ ॥
 कृष्णादिकांनीं आपुले । शंख जेव्हां वाजवले ।
 तेव्हां दुर्धर ओढवले । ऐसे कठीण प्रसंग ॥ २०२ ॥
 १६१ असो, तो गर्ज मंदावला । परी पडसाद होत राहिला ।
 तेणेंही पार विध्वंसिला । सेनासमूह कौरवांचा ॥ २०३ ॥

: २१ :

हत्तींची दाणादाण जेवीं । लीलेनेच सिंह उडवी ।
 कौरवांच्या हृदयां तेवीं । भंगिलें त्या पडसादें ॥ २०४ ॥
 त्यांनीं तो ध्वनि ऐकिला । तयीं हृदयें ठाव सोडिला ।
 म्हणती ते एकमेकाला । अरे सावध रहा आतां ॥ २०५ ॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।

प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥

शौर्य धैर्यानें ते ठायीं । श्रेष्ठ महारथी जे कांहीं ।
 होते त्यांनी पुन्हां पाही । सैन्य आपुलें सांवरिलें ॥ २०६ ॥
 मग अधिक बळ धरून । सैन्य उठतां सांवरून ।
 त्रस्त झाले लोक तीन । हालचालीनें तयांच्या ॥ २०७ ॥
 प्रलयकालीं जलधर । वर्षाव करिती अनिवार ।
 तैसें सारे धनुर्धर । बाण फेकूं लागले ते ॥ २०८ ॥
 तें पाहून अर्जुनाला । स्वमनीं संतोष वाटला ।
 तयानें सर्व सैन्याला । उत्सुक दृष्टीनें पाहिलें ॥ २०९ ॥
 युद्धास सिद्ध झालेले । कौरव त्यानें पाहिलें ।
 मग आपुलेंहि उचललें । धनुष्य अर्जुनें लीलेनें ॥ २१० ॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।

कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्गणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।

धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

: २२ :

तेव्हां अर्जुन म्हणे देवा । रथ त्वरेनें हांकावा ।
 नेवोनी उभा करावा । मधें दोन्ही सैन्यांच्या ॥ २११ ॥
 म्हणजे मी युद्धास्तव । योद्धे जे जमले सर्व ।
 त्यांना यथासंभव । नीटपणानें पाहीन ॥ २१२ ॥
 १७१ जरी सर्व आले बरवें । तरी त्यांतून कोणासवें ।
 मी रणांगणीं लढावें । हें पाहणें भाग असें ॥ २१३ ॥
 बहुतेक कौरव सगळे । असती दुष्ट उतावळे ।
 शौर्य कांहीं नसता जमले । हांव धरून युद्धाची ॥ २१४ ॥
 युद्धाची आवडी धरिती । परी रणीं न टिकून राहती ।
 इतुकें धृतराष्ट्राप्रति । सांगून म्हणे संजय ॥ २१५ ॥

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।

उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

ऐसें म्हणतां अर्जुनानें । हाकिला रथ कृष्णानें ।

आणि उभा केला त्यानें । नेऊन दोन्ही सैन्यामधें ॥ २१६ ॥

भीष्म द्रोणादि जे ठायीं । आससंबंधी होते पाही ।

आणि राजे इतरही । जेथें युद्धा होते उभे ॥ २१७ ॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् ।

आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥

: २३ :



श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥

तेथ रथ होतांचि स्थिर । औत्सुक्यानें सभोंवार ।
 अर्जुन निरखी दळभार । राहून दोन्ही सैन्यांमधें ॥ २१८ ॥
 आणि गडबडून कृष्णासी । म्हणाला त्या समयासी ।
 पहा पहा या युद्धासी । ठाकले सारे आम गुरु ॥ २१९ ॥
 तें ऐकून कृष्णाला । अचंबा थोडा वाटला ।
 म्हणें विचार काय आला । न कळें याच्या चित्तांत ॥ २२० ॥
 विलक्षण कांहींतरी । आलें याच्या अंतरी ।
 हृदयस्थें त्या सहज तरी । अनुमान ऐसें काढिलें ॥ २२१ ॥
 परी मुखें न बोलता कांहीं । कृष्ण तेथें निवांत राही ।
 सहेतुकपणें त्या समयीं । केवळ पाहत आश्चर्ये ॥ २२२ ॥
 अर्जुनें दोन्ही दळावरी । दृष्टी निज टाकित्ता पुरी ।
 सर्वत्र सोयरीं-धायरीं । त्याच्या पडली दृष्टीला ॥ २२३ ॥
 १८१ आज गुरु भाऊ चुलते । मामा पडले दृष्टीतें ।
 आणिक दिसलीं त्यास तेथें । इष्ट-मित्र मुलें बाळें ॥ २२४ ॥
 जिवलग स्नेही वा सासरे । इतरहि सखे सोयरे ।
 पुत्र नातू त्या धनुर्धरें । पाहिले, ठाकले युद्धासी ॥ २२५ ॥
 केले ज्यांच्यावरी उपकार । वा संकटांतून नेलें पार ।
 ऐसा पाही निज परिवार । सर्व सानाथोरांचा ॥ २२६ ॥
 ऐसें आपुलेंचि गोत्र कुल । युद्धा सज्ज असे सकळ ।
 दोन्ही सैन्यामधें केवळ । पाहिलें ते अर्जुनां ॥ २२७ ॥



कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥

ती सैन्याची पाहून स्थिति । अर्जुनाची चित्तवृत्ति ।
 गडबडून गेली अति । असूनिया धीर वीर ॥ २२८ ॥
 करुणें व्यापिलें मन । तेव्हां निघाली तेथून ।
 वाटून आपुला अपमान । अर्जुनाची वीरवृत्ति ॥ २२९ ॥
 स्त्रिया ज्या असती कुलवंत । सद्गुणी आणि लावण्ययुक्त ।
 तेजस्वीपणें त्यांना सवत । जेवीं सहन होते ना ॥ २३० ॥
 पत्नीस विसरे धरून रुचि । कामुक जेवीं नूतनेची ।
 योग्यता ना बघतां तिची । नादी लागे भ्रांत चित्तें ॥ २३१ ॥
 तपोबळें ऋद्धि-सिद्धि । प्राप्त होतां भ्रंशे बुद्धि ।
 मग वैराग्याची अगदीं । आठवणही नुरे तया ॥ २३२ ॥
 तसें अर्जुना तेथ झाले । शौर्य धैर्य लया गेलें ।
 कारण चित्त व्यापिलें । कारुण्यानें त्याचें तयीं ॥ २३३ ॥
 मांत्रिक चुके मंत्र म्हणाया । तरी पिशाच्च बाधे तया ।
 तैसें चित्ता अर्जुनाचिया । व्यापिलें थोर मोहानें ॥ २३४ ॥
 १९१ धैर्य त्याचें लया गेलें । कारुण्यानें हृदय द्रवलें ।
 चांदण्यामुळें पाझरलें । जैसे जाती चंद्रकांत ॥ २३५ ॥
 त्याप्रमाणे तो अर्जुन । गेला करुणें मोहून ।
 मग खेद चित्तीं धरून । श्रीकृष्णासी बोलला ॥ २३६ ॥

एक कृष्णा मी पाहिलें । सैन्याचे हे समूह सगळे ।
 आप्तजनचि जमलेले । दिसोनि आले मजलागीं ॥ २३७ ॥
 युद्धासाठीं सर्वही । उभे ठाकले यथे पाही ।
 परी देवा तेंच कायी । उचित होईल आम्हासी ॥ २३८ ॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥

गाण्डीवं संसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

झुंजावें आप्त स्वजनासी । या केवळ कल्पनेसी ।
 कसेंतरीच होतें मजसी । भान नुरतें माझें मला । २३९ ॥
 चंचल जाहलें अंतर । बुद्धिही ना राही स्थिर ।
 पहा हें माझें शरीर । कांपत आहे ये वेळीं ॥ २४० ॥
 कोरड पडली तोंडाला । आणि सर्व अवयवाला ।
 शिथिलपणा आहे आला । त्राण कांहीं नुरें तथा ॥ २४१ ॥
 कांटा उठला अंगावरी । त्वचेची आग होते पुरी ।
 आणि गांडीवासी जो धरी । हात ढिला जाहला तो ॥ २४२ ॥
 तें हातामधून गळलें । कधीं पडलें तें न कळलें ।
 ऐसें मोहानें व्यापिलें । हृदय माझें यावेळीं ॥ २४३ ॥
 अर्जुनाचे अंतःकरण । कठीण होते वज्राहून ।
 दृढता त्याची असाधारण । मोजीत नसे कवणा जी ॥ २४४ ॥
 असें पार्थाचें धीर चित्त । परी घडलें विपरीत ।
 नवल त्यावरी केली मात । आज स्नेहमोहानें ॥ २४५ ॥

: २६ :

ज्यानें जिंकिलें युद्धांत । प्रत्यक्ष श्रीशंकराप्रत ।
 निवातकवच नामें दैत्य । होते नव्हते केले त्यां ॥ २४६ ॥
 तो हा वीराग्रणी अर्जुन । न लागतां एक क्षण ।
 घेतियलासे कवळून । आप्तजनांच्या मोहानें ॥ २४७ ॥
 २०९ जसें कोरावें भ्रमरानें । वाळलें लाकूड लीलेनें ।
 परी कोवळ्या कळींत त्यानें । जेवीं गुंतावें कमलाच्या ॥ २४८ ॥
 तेथ मरूनही जाईल । परी न भेदी कमलदल ।
 तैसा स्नेह हा कोमल । मृदुत्वानें कठीण झाला ॥ २४९ ॥
 हा जो स्नेह मोह या ठाया । तीच परमात्म्याची माया ।
 जी न येई आकळावया । प्रत्यक्ष ब्रह्मदेवासहि ॥ २५० ॥
 त्याच दुर्धर मायेनें । भुलविलें अर्जुनाकारणें ।
 धृतराष्ट्रासी संजयानें । कथन केलें हें सारें ॥ २५१ ॥
 आणि म्हणें एक नृपते । अर्जुनें स्वजन पाहतां ते ।
 ईर्ष्या युद्ध करावयाते । उरली नाही त्यालागीं ॥ २५२ ॥
 कशी न कळे सदयता । निर्माण झाली त्याचें चित्त ।
 मग तो म्हणें कृष्णा आतां । मी न थांबेन रणीं या ॥ २५३ ॥
 फार व्याकुळ झालें मन । शब्द न धड ये वाणींतून ।
 वधावयाचे आप्तजन । केवळ या कल्पनेनें ॥ २५४ ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

वधावें या कौरवां जरी । युधिष्ठिरादिकां कां न तरी ।
 कारण सर्वही परस्परी । असती आमुचे गोत्रज ॥ २५५ ॥

: २७ :

म्हणोनी जळों युद्ध हें । मज मुळीं हें मान्य नोहे ।
काय तरी कारण आहे । महापातकाचें आम्हां या ॥ २५६ ॥
नानारीतीं करितां विचार । युद्धाचे परिणाम दिसती घोर ।
परी यासी टाळिलें तर । कांहीं कल्याण साधेलचि ॥ २५७ ॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणान्स्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥

या विजयाचें मज कांहीं । आतां कर्तव्य उरलें नाही ।
राज्य घेऊन करूं कायी । परिस्थिति ही पाहून ॥ २५८ ॥
२११ या सकळांसी मारून । मग जे भोगावे भोग जाण ।
आग लागो त्यालागुन । ऐसें अर्जुन म्हणें तयीं ॥ २५९ ॥
राज्यसुख ना लाभल्यामुळे । जें जें कांहीं घडेल सगळें ।
तेंही सर्व सोशीन भलें । जीवही वेचो त्यासाठीं ॥ २६० ॥
परी यांचा करून घात । राज्य भोगावे सुखांत ।
हें आणणेंही स्वप्नांत । शक्य नाही मजलागीं ॥ २६१ ॥
वडिलांचें चिंतावें अहित । तरी कां यावें जन्माप्रत ।
आणि कोणासाठीं जगांत । मग जगावें सांग देवा ॥ २६२ ॥
कुळ म्हणतें पुत्र व्हावे । हेंच फळ कां त्या यावें ।
जें पुत्रेंच निर्दाळावें । आपुल्या सर्व आप्तेष्टा ॥ २६३ ॥
हें मनीं तरी कां आणावें । कसें वज्रसें कठोर व्हावें ।
उलट साधेल तें करावे । आपुल्याच्यानें हित यांचें ॥ २६४ ॥

आम्ही जें जें मिळवावें । तें सर्व यांनींच भोगावें ।
आम्ही जीवितही वेचावें । काम यांचें साधण्यासी ॥ २६५ ॥
राजे देशोदेशींचे । आम्ही जे जिंकावयाचे ।
ते आपुल्याच कुळाचे । समाधान करण्यास्तव ॥ २६६ ॥
तेंच आमुचें कुळ सारें । युद्धा उद्यत झालें बा रे ।
उलट कसें पडलें पुरे । दैव माझें ये ठायीं ॥ २६७ ॥
मुलें बायका आणि धन । यांचाही मोह सोडून ।
शस्त्रावरी ठेवून प्राण । सिद्ध झाले युद्धा हे ॥ २६८ ॥
२२१ यांना कैसें मारूं तरी । शस्त्र धरूं कोणावरी ।
काय मीच माझ्या करीं । हृदया माझ्या विनाशावें ॥ २६९ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥

काय न जाणसी तूं हे कोण । पहा पलिकडे भीष्म द्रोण ।
ज्यांचें असती असामान्य । आमुच्यावरीं उपकार ॥ २७० ॥
मामे मेहुणे सासरे । पुत्र नातु बंधू सारे ।
आणि केवळ इष्ट दुसरे । आहेत येंथें सैन्यांत ॥ २७१ ॥
ऐसे फार जवळचे । आप्त सोयरे आमुचे ।
नांव ज्यांना मारण्याचें । काढतांही पाप लागें ॥ २७२ ॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

हे येथ कसेंही वागोत । ठारही मजसी करोत ।
परी यांचा करणें घात । मनींही ना आणीन मी ॥ २७३ ॥

त्रैलोक्याचें राज्य जरी । संपूर्ण सहज लाभें तरी ।
परी अयोग्य कृत्यें करीं । माझ्या न कधीं घडतील ॥ २७४ ॥
आम्ही करतां हें वर्तन । आमुचा आदर करी कोण ।
मग तुझ्याही पुढें येऊन । आम्हां उभें राहवेल कां ॥ २७५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रात्तः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

जरी कुळाचा वध करून । झालों दोषांचें वसतिस्थान ।
अंतरशील मजलागून । लाभलेला कृष्णा तू ॥ २७६ ॥
पातकें गोत्र-घातांतील । सर्वही मजसी लागतील ।
तेव्हां कैसें रे होईल । दर्शन तुझें आम्हांसी ॥ २७७ ॥
जेवी आग भयंकर । उद्यानासी लागल्यावर ।
मग ते ठायीं क्षणभर । कोकीळ ना थांबतसे ॥ २७८ ॥
२३१ चिखलानें गढूळ झालें । चकोर, जरी पाही तळें ।
तरी त्यासी न चाखितां भले । दूर जाई धिःकारून ॥ २७९ ॥
पुण्याचा अंश त्यापरी । माझ्याजवळ नुरला जरी ।
ठकवून मज तू जाशील दुरी । आणि पुन्हां न भेटशील ॥ २८० ॥

तस्मान्नाहार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

म्हणोनि कांहीं झालें तरी । मी या युद्धीं शस्त्र न धरीं ।
कारण युद्ध हें नानापरी । निंद्य दिसून येतें मला ॥ २८१ ॥
आम्हां तूं जरी अंतरशील । तरी आमुचें काय उरेल ।
तुझ्यावीण दुःखें फुटेल । कृष्णा हृदय आमुचें हें ॥ २८२ ॥

म्हणून कौरवांसी वधावें । मग आम्ही राज्य भोगावें ।
हें आतां न मुळीं संभवें । ऐसें अर्जुन म्हणें तेथ ॥ २८३ ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्विर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

अहंकारें तादूर गेलें । कौरवांनी रण मांडिले ।
परी आम्ही पाहिजे पाहिलें । आमुचें हित काय कसें ॥ २८४ ॥
हें ऐसें कैसें करावें । कीं आपुलेंच आप्त मारावें ।
कळून वळून कैसें घ्यावें । सांग देवा कालकूट ॥ २८५ ॥
कृष्णा चालतांना रस्त्यांत । पुढें सिंह ये अवचित ।
तरी तो चुकवून जाण्यांत । लाभ आपुला असतो कीं ॥ २८६ ॥
टाकिता हातीच्या दिव्याप्रत । कोसळावें लागे विहिरींत ।
कृष्णा सांगे मजसी यांत । काय लाभ होतो तरी ॥ २८७ ॥
समोर डोळ्यांनीं दिसे अग्नि । त्यासी न जावे टाळुनी ।
तरी मग तो एका क्षणीं । काय न टाकी जाळून ॥ २८८ ॥
२४१ ऐसें दोष हें मूर्तिमंत । करूं पाहती आघात ।
सर्व हें असतां जाणत । करण्या पुढें यावें कां ॥ २८९ ॥
तेवेळीं म्हणे अर्जुन । देवा ऐक लक्ष देऊन ।
पापाचें या रूप दारुण । सांगतो मी तुजलागीं ॥ २९० ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मं नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।

स्त्रीषु दुष्टासु वाष्ण्यं जायते वर्णसङ्करः ॥ ४१ ॥

काष्ठ घासितां काष्ठाने । अग्नि प्रगटे सहजपणे ।
तो आपुल्या भडकण्याने । सर्व लाकडां जाळीतसे ॥ २९१ ॥
तैसें गोत्रज मत्सरग्रस्त । परस्परांचा करिता घात ।
त्या दोषाने त्यांचें समस्त । कुळच पावतें नाशाला ॥ २९२ ॥
म्हणून ऐसें घडतां पाप । वंश धर्माचा होतो लोप ।
मग अधर्म आपोआप । वाढतो साऱ्या कुळामधें ॥ २९३ ॥
तेथ सारासाराचा विचार । कोणाचा कोणता आचार ।
वा विधिनिषेधाचे प्रकार । हें कीं सारेच संपते ॥ २९४ ॥
दिवा मालवून अंधारी । कोणी चालूं लागे जरी ।
सरळमार्ग असला तरी । अडखळावें लागे त्या ॥ २९५ ॥
तैसा होता कुलक्षय । कुळधर्माचा लोप होय ।
मग तेथ दुर्जे काय । उरतें पापावांचुनी ॥ २९६ ॥
जेव्हां यमनियम संपती । तेव्हां इंद्रियें स्वैर होतीं ।
तेणें कुळस्त्रियांप्रति । व्यभिचार वाटती करावे ॥ २९७ ॥
श्रेष्ठ वर्णातील नारी । जाती नीचा बरोबरी ।
वर्णसंकर ऐशापरी । होऊन नुरे जातिधर्म ॥ २९८ ॥
बळी ठेवतां चव्हाट्यावर । त्यास कावळे खाती स्वैर ।
तैसे वाढतां व्यभिचार । महापापें शिरतीं कुळीं ॥ २९९ ॥

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

: ३२ :

मग ते कुळ संपूर्ण । आणि कुलघातक जे जन ।
त्या दोघांही लागून । नरका जाणें भाग होतें ॥ ३०० ॥
वंशजांची अधोगति । ऐशी पहा झाल्यावरतीं ।
स्वर्गातून खालीं येती । पितरही त्या वंशजांचे ॥ ३०१ ॥
सर्वहीं कृत्यें धार्मिक । नित्य अथवा नैमित्तिक ।
लोप पावतां तिलोदक । कोण देईल कोणासी ॥ ३०२ ॥
मग काय करिती पितर । स्वर्गीं कसे राहति स्थिर ।
निरुपायानें खरोखर । तेही येती कुळापाशीं ॥ ३०३ ॥
जरी बोटाच्या टोंकावरी । साप चावला विषारी ।
तरी विष तयाचें सत्वरीं । नखशिखान्त देहा व्यापी ॥ ३०४ ॥
तैसें पातकें वाढतां । धर्मक्रियांचा लोप होता ।
विधात्यापासून समस्ता । कुळा लागें बुडावेंचि ॥ ३०५ ॥

दोषैरैतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।

उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।

नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

देवा आणिकही एक । येथ घडें महापातक ।
कीं पतिताच्या संगे लोक । सारे आचारभ्रष्ट होती ॥ ३०६ ॥
जसें एखाद्याच्या घराला । सहज अग्नि लागला ।
तरी तोच भडकलेला । इतर घराही जाळीतसे ॥ ३०७ ॥
तैसें पतितांच्या संगती । जे जे कोणी वागती ।
त्यांनांही दोष बाधती । त्या कुळाच्या निमित्तानें ॥ ३०८ ॥

: ३३ :



ऐसें दोषानें भरलेलें । अर्जुन म्हणें ते कुळ सगळें ।
 आपुल्या घोर पापामुळें । भयंकर नरका भोगितें ॥ ३०९ ॥
 २६१ एकदां तेथें पडतां पाही । कल्पांतीही सुटका नाही ।
 अधोगति एवढी होई । म्हणे अर्जुन कुलक्षयें ॥ ३१० ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।

यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

देवा ऐसे भयंकर । कार्णीं येतां प्रकार ।
 कैसा उद्वेग तिळभर । येत ना तुज युद्धाचा ॥ ३११ ॥
 काय तूं हृदय आपुलें । वज्रापरी कठोर केलें ।
 म्हणून इतुकें सांगितलें । तरी न होतो परिणाम ॥ ३१२ ॥
 राज्यसुखाची ज्याच्यासाठीं । अभिलाषा धरणें मोठी ।
 तो देह तरी शेवटीं । क्षणभंगुर आहेच कीं ॥ ३१३ ॥
 हें सारें येथ मजसी । कळत असतांना मानसीं ।
 कां न मी या दोषासी । टाळावें तें सांग मला ॥ ३१४ ॥
 ठार करण्याच्या दृष्टीनें । पाहिलें वडिलाकारणें ।
 हें कां आमुच्या हाताने । पातक घडलें थोडकें ॥ ३१५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।

धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

आतां यापरी जिवंत । राहण्यापेक्षां हेंच हित ।
 कीं शस्त्रें टाकून रणांत । मार सोसावा बाणांचा ॥ ३१६ ॥
 मग होवो जें होईल । वरी मृत्यूही बरा वाटेल ।
 परी हे पाप केवळ । कराया इच्छा मम नाही ॥ ३१७ ॥

: ३४ :



ऐसें पाहून युद्धासी । जमलेल्या सर्व कुळासी ।
 अर्जुन म्हणाला कृष्णासी । राज्य नव्हे हा नर्क आहे ॥ ३१८ ॥

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्त्वाऋजुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।

विमुञ्च्य सशरं चापं शोकसंविग्रमानसः ॥ ४७ ॥

ऐसें रणीं अर्जुन । तेधवां करी भाषण ।
 संजय म्हणें देऊन कान । ऐकावें तें धृतराष्ट्रा ॥ ३१९ ॥
 अर्जुन जाहला उद्विग्न । गंहिवर आला दाटून ।
 मग त्यानें रथामधून । उडी खालती घेतली ॥ ३२० ॥
 जैसा युवराज पदच्युत । झाल्यावरी निस्तेज होत ।
 किंवा ग्रहणानें पीडित । सूर्य होतो प्रभाहीन ॥ ३२१ ॥
 २७१ वा महासिद्धि प्राप्त होता । तपस्वी होतो भ्रांत चित्ता ।
 वासनेसी गुंतून पुरता । दीन होऊन जात जेवीं ॥ ३२२ ॥
 तैसा तो वीर अर्जुन । दुःखानें गेला गांजून ।
 जेव्हां रथाच्यावरून । उतरला तो खालती ॥ ३२३ ॥
 त्यानें धनुष्यबाण टाकिले । अश्रू न त्यासी आवरले ।
 ऐसें तेथें घडून आलें । संजय सांगे राजासी ॥ ३२४ ॥
 आतां यावरी तो श्रीकृष्ण । पार्थ झाला बघून खिन्न ।
 कोणत्याप्रकारें निरूपण । परमार्थाचें करील कीं ॥ ३२५ ॥
 ती सविस्तर कथा पुढती । कौतुकावह आहे अति ।
 ज्ञानदेव ऐसें म्हणती । शिष्य निवृत्तिनाथांचे ॥ ३२६ ॥

: ३५ :

तैशापरी तो अर्जुन । मोहानें व्याकुळ पाहून ।
तयालागीं तो श्रीकृष्ण । काय बोलला तें ऐका ॥ ५ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

म्हणे अर्जुना घे चित्तांत । हें यावेळीं काय उचित ।
तूं कोण आणि या येथ । काय करितो आहेस हें ॥ ६ ॥
तुला काय झालें तरी । उणीव पडली कसली तरी ।
काय कराया चुकलें तरी । खेद इतुका कशास्तव ॥ ७ ॥
अयोग्य चित्तीं तुझ्या न येतें । धैर्य तुझें कधीं न सुटतें ।
तुझें नांव घेतां पळतें । कुठल्याकुठें अपयश ॥ ८ ॥
तूं आश्रय शूरतेचा । राजा शोभसी क्षत्रियांचा ।
अरे तुझ्या सामर्थ्याचा । प्रभाव आहे तिन्ही लोकीं ॥ ९ ॥
तूं रणीं रुद्रा जिंकिले । निवातकवचा ठार केले ।
गंधर्वासीही चारिले । खडे तुवां युद्धांत ॥ १० ॥
११ अरे अर्जुना तुझ्यापुढें । त्रैलोक्य वाटावें तोकडें ।
असें तुझ्याठायीं उघडें । अलौकिक आहे पौरुष ॥ ११ ॥
तो तूं आज या ठिकाणीं । आपुली वीरवृत्ति सोडुनी ।
तोंड खालीं करूनि । रडावें हें शोभतें कां ? ॥ १२ ॥
पहा तूं आहेस अर्जुन । आणि कारुण्यें झालास दीन ।
अंधारानें काय गिळून । टाकावें त्या भास्करासि ॥ १३ ॥

: ३८ :

वान्यानें मेघा घाबरावें । वा अमृतासी मरण यावें ।
इंधनें गिळून टाकावें । काय प्रत्यक्ष अग्नीसी ॥ १४ ॥
जल विरघळलें मिठानें । कालकूट मेलें बाधेनें ।
सांग कधीं बेडकानें । नाग मोठा गिळिला कां ॥ १५ ॥
कोल्हा सिंहासवें झगडे । असें अघटित काय घडें ।
परी तें अशक्य एवढें । सत्य करून दाविलें तूं ॥ १६ ॥
म्हणून अजुनी अर्जुना । अयोग्य हें न आणी मना ।
धीर धरून अंतःकरणा । सावध होई त्वरेनें ॥ १७ ॥
सोड सोड हें मूर्खपण । ऊठ करीं घे धनुष्यबाण ।
अरे हें आहे रणांगण । कारुण्य येथें शोभतें ना ॥ १८ ॥
अरे तूं असून जाणता । विचार न करिसी आतां ।
युद्धसमयीं दयालुता । योग्य म्हणती काय कोणी ॥ १९ ॥
यानें जाते असली कीर्ति । परलोकीं लाभे दुर्गति ।
ऐसें तेथें अर्जुनाप्रति । जगन्निवास बोलला तो ॥ २० ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

२१ आणि म्हणे शोक न करी । धैर्य पुरतें चित्तीं धरी ।
शोकाकुलता झुगारी । पांडुपुत्रा ये ठायीं ॥ २१ ॥
हें न तुजसी शोभतें । यानें मिळालेलें नासतें ।
अजुनी तरी निजहितातें । विचारामधें घेई तूं ॥ २२ ॥
अरे अर्जुना युद्धाठायीं । कृपाळूपणा बरा नाहीं ।
हे सर्व आतांच कायी । सांग सोयरे झाले तुझें ॥ २३ ॥

: ३९ :

हे आधीं का कळलें नव्हतें । नोळखसी कां आसातें ।
 आतां व्यर्थ असा येंथें । अतिरेक कां करिशी हा ॥ २४ ॥
 उभ्या जन्मामधें नवीन । तुज कां भेटलें आज रण ।
 सदा परस्परांकडून । प्रसंग याचा आहे तुम्हां ॥ २५ ॥
 मग आतांच काय झालें । ममत्व कोटून उपजलें ।
 नकळे, परी तूं हें केलें । फार वाईट अर्जुना ॥ २६ ॥
 हा मोह जरी धरशील । तरी असती प्रतिष्ठा जाईल ।
 आणि परलोकही अंतरेल । इहलोकासवें तुझा ॥ २७ ॥
 अरे हृदयाचें दिलेपण । घडवी कांहीं चांगलें न ।
 क्षत्रियाचें अधःपतन । होतें यानें युद्धामधें ॥ २८ ॥
 असा तो कृपाळू श्रीहरी । उपदेश करी नानापरी ।
 तेव्हां अर्जुन त्याचेवरी । काय बोलला तें ऐका ॥ २९ ॥

अर्जुन उवाच ।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
 इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥
 देवा इतुकें ऐशापरी । फार बोलसी कां तरी ।
 तूंच चितीं विचार करी । हें काय आहे युद्ध ॥ ३० ॥
 अरे हें खरे नसें युद्ध । हा उघड घडतो प्रमाद ।
 पूज्यांचा करणें उच्छेद । प्रसंग ऐसा ओढवला ॥ ३१ ॥
 पहा मातापितरां पूजावें । सर्वस्वानें तोषवावें ।
 आणि नंतरीं कां वधावें । आपुल्याच हातीं तया ॥ ३२ ॥

: ४० :

देवा, संतसमुदाय वंदावें । घडें तरी पूजन करावें ।
 तें टाकून कां निंदावें । स्वमुखानें उलट त्यांना ॥ ३३ ॥
 तैसें गुरुजन आणि हे आप्त । पूजनीय आम्हां निश्चित ।
 मजवरी असती बहुत । उपकार भीष्मद्रोणांचे ॥ ३४ ॥
 मनानें जयांच्याविषयीं । वैर स्वप्नींही धरणें नाही ।
 त्यांचा प्रत्यक्ष ये ठायीं । घात कैसा करूं देवा ॥ ३५ ॥
 जळों जळों हें जीवन । वेळ कसली ही दारुण ।
 काय मिरवूं गुरु वधून । प्रतिष्ठा शस्त्राभ्यासाची ॥ ३६ ॥
 अर्जुन द्रोणांनीं घडविला । त्यांनीं धनुर्वेद मज दिला ।
 त्या उपकारांनीं बांधला । आज वधूं काय त्यांसीं ॥ ३७ ॥
 ज्याच्या कृपेनें लाभे वर । काय उलटावे तयावर ।
 तरी मी कां भस्मासुर ? । अर्जुन म्हणें कृष्णासी ॥ ३८ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।

हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्कथिरप्रदिग्धान् ॥५॥

देवा समुद्रा म्हणती गंभीर । तो तसा भासतो वर वर ।
 परी या द्रोणांचें अंतर । क्षुब्ध कधीं होत नाही ॥ ३९ ॥
 अमर्याद असें जें आकाश । तेंही येईल मोजायास ।
 परी द्रोणांच्या हृदयास । असे गहन अगाधता ॥ ४० ॥
 ४१ देवा नासेल अमृत । वज्र फुटेल कदाचित् ।
 परी द्रोणांच्या चित्तांत । अशक्य विकार निर्माणें ॥ ४१ ॥
 वात्सल्यमयी एक आई । म्हणती जें तें खरेंच पाही ।
 परी वात्सल्य द्रोणाठायीं । तें या आहे मूर्तिमंत ॥ ४२ ॥

: ४१ :

हा कारुण्याचें माहेर । सकळ गुणांचें भांडार ।
 विद्येचा अनंत सागर । म्हणजे द्रोण, पार्थ म्हणें ॥ ४३ ॥
 इतुकें असून मोठेपण । आम्हांवरी ज्यांची कृपा पूर्ण ।
 ते मारावे गुरू द्रोण । हें मनींही आणूं का ॥ ४४ ॥
 गुरुजना रणीं वधावें । नंतर राज्यसुख भोगावें ।
 हें न मज रुचें जीवें । प्राणावरी बेतताही ॥ ४५ ॥
 हें सर्वथा असें कठीण । श्रेष्ठ भोग जे याच्याहून ।
 तरी ते सर्व टाकून । भिक्षा सुखें मागीन मी ॥ ४६ ॥
 देशत्यागहि करीन । गिरिकंदरीं राहीन ।
 परी ना कधीं धरीन । शस्त्र आतां यांच्यावरी ॥ ४७ ॥
 तीक्ष्ण बाणांनीं मर्मावर । यांच्या करोनि प्रहार ।
 ते कां शोधू खरोखर । भोग रक्तीं बुडालेलें ॥ ४८ ॥
 तें किमर्थ मेळवावें । रक्ते माखलेले कां घ्यावें ।
 यास्तव तुझा मनोभावे । युक्तिवाद पटेना हा ॥ ४९ ॥

न चैतद्विद्यः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

ऐसें पार्थे ते अवसरीं । श्रीकृष्णासी म्हटलें जरी ।
 तें ऐकूनहि श्रीहरी । मान्यता निज दाखवी ना ॥ ५० ॥
 ५१ तें पाहून अर्जुन भ्याला । आणि पुन्हां बोलूं लागला ।
 म्हणे देवा माझ्या बोला । विचारीं कां न घेतां तुम्ही ॥ ५१ ॥
 जें जें मजसीं वाटतें । विचारपूर्वक बोललों तें ।
 चांगलें काय याच्यापरतें । तें तो कळतें तुम्हांसीच ॥ ५२ ॥

: ४२ :

पहा ' ज्यांच्या विरुद्ध जावें ' । -हें बोलतांही प्राण द्यावें ।
 तेच उभे ठाकले बरवें । पुढे युद्ध-निमित्तानें ॥ ५३ ॥
 आतां ऐशांना मारावे । कीं हें युद्ध सोडून जावें ।
 न कळें काय आचरावें । या दोहोंतील आम्ही ॥ ५४ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः

पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

आम्हां काय ठरें उचित । तें विचारेंही ना सुचत ।
 फार व्याकुळ झालें चित्त । माझें येथ या मोहानें ॥ ५५ ॥
 डोळ्यास येतां अंधारी । पुढचेही ना दिसे तरी ।
 वस्तू असतांही शेजारी । सांपडते ती ना जशी ॥ ५६ ॥
 देवा तैसें माझें झालें । मन हें भ्रांतीने ग्रासिलें ।
 आतां काय हित आपुलें । तेंहि माते उमगेना ॥ ५७ ॥
 म्हणून तूंच सर्व घे विचारीं । योग्य तें मज कथन करी ।
 तूंच एक सर्वतोपरी । मित्र सखा अससी आम्हां ॥ ५८ ॥
 तूंच गुरु, तूं बंधू, पिता । तूंच आमुची इष्ट देवता ।
 संकटामधें रक्षणकर्ता । तूंच अससी आम्हांसी ॥ ५९ ॥
 शिष्य गेला सद्गुरुपाशीं । तो न अक्वेरी तयासी ।
 किंवा आलेल्या नद्यांसी । समुद्र कधीं त्यजितो ना ॥ ६० ॥
 ६१ आपुलें तान्हें मूल, आई । टाकून जरी दूर जाई ।
 तरी तिच्यावाचून कांयी । जगणें शक्य होई तया ? ॥ ६१ ॥

: ४३ :

तैसें सर्वस्व आम्हांसी । देवा तूच एक अससी ।
यास्तव मान्य जरी तुजसी । माझें बोलणें नसेल हें ॥ ६२ ॥
तरी अधर्म नाही जयांत । असें आम्हां काय उचित ।
ते तूच कृष्णा त्वरित । येथें आतां सांग मला ॥ ६३ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

हें सकळ कुळ पाहुनी । शोक उपजला माझ्या मनीं ।
तो तुझ्या उपदेशावांचुनी । जाणार नाहीं दुसऱ्यानें ॥ ६४ ॥
पृथ्वीचें साम्राज्य मिळालें । इंद्रपदही हातीं आलें ।
परी माझ्या मनांतलें । मोहावरण जाई न हें ॥ ६५ ॥
जैसें बीज भाजलेलें । सुपीक शेतीं पेरिलें ।
पाणी हवें तेवढें दिलें । तरी मोड फुटे न त्या ॥ ६६ ॥
जैसें आयुष्य झाल्या पुरतें । औषध कामासी न येतें ।
उपयोगी तेथ पडतें । एक अमृत मिळें जरी ॥ ६७ ॥
तैसें राज्यभोगाचें प्रलोभन । हें न पुरेसें उत्तेजन ।
मम हृदया सचेतन । करो दयाळा कृपा तुझी ॥ ६८ ॥
क्षण एक मोह उणावला । तेव्हां अर्जुन असें बोलला ।
मग पुन्हां मोहें तयाला । व्यापून तेथें घेतलें ॥ ६९ ॥
हा न मोह साधारण । वेगळेंच कांहीं वाटे आन ।
काळसर्प चावला दारुण । यासी महामोहरूपी ॥ ७० ॥
७१ मर्मस्थानी हृदयकमळीं । कारुण्यरूपीं सांजवेळीं ।
मोहसर्पाची बाधा झाली । तेणें लहरी उतरे ना ॥ ७१ ॥

स्थिति ती जाणून कठिण । जो विषा नाशी पाहून ।
तो गारुडी श्रीकृष्ण । ' धांवा ' करितां, तेथ आला ॥ ७२ ॥
अर्जुन झालासे व्याकुळ । कृष्ण उभा त्याचेजवळ ।
आतां त्याचें कृपाबळ । सहज रक्षील पार्थासी ॥ ७३ ॥
ही सारी पाहून स्थिति । कल्पना केली या रीति ।
कीं चावला पार्थाप्रति । मोहरूपी काळसर्प ॥ ७४ ॥
किंवा मेघाच्या पटलानें । झाकावें सूर्याकारणें ।
तैसा अर्जुन भ्रांतीनें । व्यापिला होता पहा तेथें ॥ ७५ ॥
वा उन्हाळ्यामधें पर्वत । वणव्यानें व्हावा व्याप्त ।
त्यापरी तो दुःखग्रस्त । अर्जुन झाला मोहानें ॥ ७६ ॥
म्हणोनि स्वभावे नीलवर्ण । जो कृपाजलानें असे पूर्ण ।
तो मेघरूपी श्रीकृष्ण । वळला त्या अर्जुनाकडे ॥ ७७ ॥
तेथ सुदर्शनाची दीप्ति । ती वीज जणूं तळपती ।
गंभीर वाणी शोभत होती । गर्जनेपरी मेघाच्या ॥ ७८ ॥
आतां उदार मेघनीळ । तो कसा वर्षाव करील ।
आणि तयामुळें होईल । शांत पर्वत पार्थरूपी ॥ ७९ ॥
आणि त्या कृपावर्षावें । तेथ अंकुर नवे नवे ।
ज्ञान-स्फूर्ति-रूप बरवे । कैशापरी फुटतील ॥ ८० ॥
समाधानानें अंतरी । ती कथा ऐका आदरीं ।
ऐसें म्हटलें ज्ञानेश्वरीं । शिष्य जे निवृत्तिनाथांचें ॥ ८१ ॥

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

८१ ऐसैं संजय ते ठायीं । धृतराष्ट्रा सांगता होई ।
 शोकाकुल तो पार्थ पाही । कृष्णा पुन्हां ऐसैं म्हणें ॥ ८२ ॥
 श्रीकृष्णा आतां येथ । माझी न घालावी समजूत ।
 कांहीं झालें तरी युद्धांत । निश्चयें भाग न घेई मी ॥ ८३ ॥
 ऐसैं एकवेळ बोलला । मग मौन धरून राहिला ।
 त्यास पाहून कृष्णाला । वाटला तेथें विस्मय ॥ ८४ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

कृष्ण आपुल्या मनीं म्हणे । आरंभिलें हें काय यानें ।
 काय करावें ' हा न जाणे । कांहींच कैसें ' याठायीं ॥ ८५ ॥
 यासी कशानें उमजेल । हा कशानें धीर धरील ।
 असें चिंती तो घननीळ । मांत्रिक जेवी ग्रहबाधा ॥ ८६ ॥
 वा असाध्य पाहून व्याधि । अमृतासम दिव्यौषधी ।
 वैद्य जसा तेथ शोधी । निर्वाणीची प्रभावी जी ॥ ८७ ॥
 तैसा त्या दोन्ही सैन्यांत । श्रीकृष्ण पडला विचारांत ।
 म्हणे ' काय केल्या पार्थ । भ्रांती सोडील चित्ताची ' ॥ ८८ ॥
 मग तें कारण शोधून । कृष्ण बोलले रागावून ।
 जसें मातेच्या कोपामधून । स्नेह राही दडलेला ॥ ८९ ॥
 वा औषधाच्या कडूपणांत । भरलेलें राही अमृत ।
 वरी न दिसें, परिणामांत । परी तें येतें प्रत्यया ॥ ९० ॥
 तैसें पाहतां वरवर । जीं रुक्ष वाटतीं कठोर ।
 परी आंत सुरस मधुर । ऐशीं वाक्यें कृष्ण बोले ॥ ९१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

११ अर्जुना म्हणती भगवंत । आरंभिलें हे काय येथ ।
 जें पाहून विस्मित । मीही झालों ये ठायीं ॥ ९२ ॥
 तूं ज्ञाता मानिसी आपणासी । आणि अज्ञान ना टाकिसी ।
 शिकवूं जावें कांहीं तुशीं । तरी सांगसी तूंच नीति ॥ ९३ ॥
 जन्मांधा वेड लागावें । मग तो सैरावैरा धांवे ।
 तसें तुझें हें आघवें । शहाणपण वाटें मला ॥ ९४ ॥
 तूं न आपणासी जाणसी । कौरवांस्तव शोक करिसी ।
 याचें आश्चर्य आम्हांसी । वाटे येथें वरचेवर ॥ ९५ ॥
 वा त्रिभुवनाचा सारा भार । सांग काय रे तुझ्यावर ।
 ते काय असती ' कुचर ' । अनादि म्हणती विश्वा जे ॥ ९६ ॥
 सर्व समर्थ आहे कोणी । भूतें उपजलीं त्यापासुनी ।
 ऐसे जर्गी बोलती ज्ञानी । तें कां व्यर्थ मानावें ॥ ९७ ॥
 कां रे सध्यां असें झालें । कीं जन्ममृत्यू तूं निर्मिले ।
 तेणें तूं जरी मारिलें । तरीच मरती हे लोक ॥ ९८ ॥
 तूं भ्रांतीमुळें अहंकार । -धरून, म्हणशी ना वधणार ।
 तरी काय हे राहणार । होऊन येथें चिरंजीव ॥ ९९ ॥
 एक तूं येथ मारणारा । आणि मरणारा लोक सारा ।
 ऐशी भलतीच अंतरा । भ्रांती तुवां धरावी ना ॥ १०० ॥

सारे अनादिपणें चालतें । स्वभावानें होतें जातें ।
 मग यांचा शोक तूते । सांग होतो कशामुळें ॥१०१॥
 १०१ मूर्खपणें ना कळे तुशी । न चिंतावें तें चिंतीसी ।
 परी तूंच नीति सांगशी । उलट येथें आम्हांप्रति ॥ १०२ ॥
 दोघांचाही विचारवंत । शोक कधीं ना करितात ।
 कारण दोन्ही असती भ्रांत । जन्ममृत्यू ठावे तया ॥ १०३ ॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

अरे अर्जुना ये ठायीं । हे जे कोणी जमले पाही ।
 तुम्ही आम्ही वा इतरही । सर्व जे राजे रजवाडे ॥ १०४ ॥
 ते असेच राहू टिकून । वा निश्चयें जाऊं मरून ।
 हा भ्रम वेगळा करून । पाहू जातां, दोन्ही नाहीं ॥ १०५ ॥
 अरे उपजतें आणि मरतें । हें मायेनें दिसून येतें ।
 तत्त्वतां जी वस्तू असतें । ती असें अविनाशिचि ॥ १०६ ॥
 वाच्यानें पाणी हलविलें । आणि तरंग तेथें दिसले ।
 तरी काय जन्मा आलें । नवीन कोणी ते ठायीं ॥ १०७ ॥
 वाच्याचें वाहणें थांबतें । आणि पाणी स्थिरावतें ।
 विचार करून सांग तेथें । आतां काय नष्ट झालें ॥ १०८ ॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

शरीर दिसें जरी एक । परी वयाचे भेद अनेक ।
 येथ तूं हा आणिक । पहा प्रत्यक्ष पुरावा ॥ १०९ ॥

बाळपण आधीं दिसें । मग तारुण्यांत तें विनाशें ।
 परी त्या त्या वयासरिसें । शरीर नष्ट न होतें कीं ॥ ११० ॥
 तैसें चैतन्याच्या ठायीं । होती जातीं देहांतरें हीं ।
 हें जो जाणतो तया न होई । मोहानें या दुःख कधीं ॥ १११ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।

आगमापायिनो नित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

१११ इंद्रियांच्या आधीनपण । हेंच अज्ञानाचें कारण ।
 इंद्रियाधीन होता मन । उत्पत्ति होते भ्रमाची ॥ ११२ ॥
 इंद्रियें विषयां सेवितीं । तेणें हर्ष शोक उपजती ।
 ते निज संसर्गें व्यापिति । मनुष्याचे अंतरंग ॥ ११३ ॥
 पहा या विषयाच्या ठायीं । एकनिष्ठपणा कधीं नाहीं ।
 जो एकदां दुःख देई । तोच सुखद होतो कधीं ॥ ११४ ॥
 पहा कीं निंदा आणि स्तुति । दोन्ही शब्दांचीं रूपें असतीं ।
 परी ते येतां कानावरतीं । द्वेष अथवा प्रेम वाटें ॥ ११५ ॥
 मृदु अथवा कठीण । हे स्पर्शाचे दोन्ही गुण ।
 त्वचेच्या संयोगें, कारण । होती पहा सुखदुःखा ॥ ११६ ॥
 एक भेसूर एक सुरेख । हें रूपाचें स्वरूप देख ।
 परी तें निर्मी सुखदुःख । दृष्टीचिया द्वारानें ॥ ११७ ॥
 सुगंध अथवा दुर्गंध । हा गंधाचा असे भेद ।
 त्याचा नाकाशीं संबंध । येतां वाटे हवा नको ॥ ११८ ॥
 तैसें रुचि अथवा अरुचि । ही भिन्नता रसाची ।
 संमति घेतां जिभेची । आवडी वा किळस वाटे ॥ ११९ ॥



पहा विषयाची संगति । इंद्रियद्वारें फसवी ती ।
 विषयसंगें अधोगति । होते नादीं लागतांची ॥ १२० ॥
 होतां इंद्रियांच्या आधीन । भोगावें लागें शीत उष्ण ।
 आणि गुंतावें लागें जाण । सुखदुःखांच्या पाशामधें ॥ १२१ ॥
 विषयांवांचून इंद्रियांतें । दुसरें गोड ना वाटतें ।
 या आपुल्या स्वभावातें । इंद्रियें सोडूं शकतीं ना ॥ १२२ ॥
 १२१ विषय पाहतां विचारी । असती मृगजलापरी ।
 वा भासतो स्वप्नांतरी । महाकाय हत्ती जसा ॥ १२३ ॥
 म्हणून क्षणिक विषयांना । तूं धिक्कारी अर्जुना ।
 कधींही तूं लागावें ना । आसक्तीनें त्यांच्या नादीं ॥ १२४ ॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

विषयां न होतां मोहित । सुखदुःख ना प्राप्त होत ।
 त्यापरी गर्भवासांत । रहावें न लागें तया ॥ १२५ ॥
 इंद्रियांच्या विषयांतून । ज्याचें सुटलें असें मन ।
 तो जाहला परिपूर्ण । ब्रह्मरूप हें ओळखावें ॥ १२६ ॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

आतां अर्जुना आणिक एक । सांगतो कांहीं मी तें ऐक ।
 विचारानें ज्ञाते लोक । केवळ जाणूं शकती ज्या ॥ १२७ ॥
 दृश्य सृष्टीच्या उपाधींत । सर्वत्र चैतन्य असें गुप्त ।
 तत्त्वज्ञानी जे कां संत । तेच जाणून घेती त्या ॥ १२८ ॥



दूध आणि पाणी जसें । मिसळून एक झालेसें ।
 परी तयाला राजहंसें । निवडावें भिन्नभिन्न ॥ १२९ ॥
 वा अग्नीमधें घालून । सोन्याच्यामधील हीण ।
 काढून शाहणे सुवर्ण । शुद्ध करून घेती जसें ॥ १३० ॥
 वा कौशल्यें करून । दद्याचें करितां मंथन ।
 शेवटीं त्याच्यामधून । लोणी जसें व्यक्त होतें ॥ १३१ ॥
 वा धान्य भूस मिसळलेलें । जरी नीट उफणलें गेलें ।
 जड धान्य खालीं राहिलें । फोल उडून जातें कीं ॥ १३२ ॥
 १३१ तैसें विचारानें निरास । ज्याचा होतो त्या प्रपंचास ।
 टाकितां, उरतसें ज्ञात्यांस । मग एक ब्रह्मतत्त्व ॥ १३३ ॥
 म्हणून अशाश्रुताच्या ठायीं । सत्यत्वबुद्धि त्यांस नाहीं ।
 पारखून त्यांनीं दोन्हीही । सार घेतलें तयातलें ॥ १३४ ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

करितां सारासाराचा विचार । भ्रमात्मक जें तें असार ।
 नित्य असतें खरोखर । स्वभावानें सार जे तें ॥ १३५ ॥
 हा तिन्ही लोकांचा आकार । असे जयाचा विस्तार ।
 त्या मूलतत्त्वासी साचार । चिन्हें ना नामरूपादि ॥ १३६ ॥
 जें सर्वव्यापी शाश्रुत । जन्ममरणाच्या अतीत ।
 करूं गेले तरी घात । त्याचा न होतो केव्हांही ॥ १३७ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

आणि शरीराकडे पाहतां । तें नाशवंत स्वभावता ।
म्हणून अर्जुना तूं आतां । युद्ध करावें हें येथें ॥ १३८ ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

तूं धरून देहाभिमान । दृष्टि देहाकडे ठेवून ।
भ्रमानें करिशी भाषण । कीं मी मारिता हे मरते ॥१३९॥
पार्था तुज खरें ना कळतें । करी तत्त्वतां विचारातें ।
तूं वधणारा नसशी यांते । हे मरणारे नसती कीं ॥१४०॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

स्वप्नामधें कांहीं दिसतां । त्याची स्वप्नींच सत्यता ।
जागे होऊन पाहूं जातां । तेथे कांहीं नसते कीं ॥१४१॥
तैसी मायाच ही सारी । तुजसी व्यर्थ भ्रांत करी ।
शस्त्र हाणितां छायेवरी । अरे तें देहा खुपतें कां ॥१४२॥
१४१ भरलेला कुंभ सांडला । तरी बिंबाकार लोपला ।
परी त्याच्यासवें सूर्याला । नाश न लागे भोगावा ॥१४३॥
जैसें घरामधें आकाश । धरीं घराच्या आकारास ।
घर तें मोडून गेल्यास । मूळरूपीं सहज राही ॥१४४॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

तैसें नष्ट होतां शरीर । मूळ स्वरूप राही स्थिर ।
म्हणून नाशाचा तयावर । आरोप न करी भ्रांतीनें ॥१४५॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गुह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

जैसें जुने वस्त्र टाकिती । मग नवे धारण करिती ।
तैसें दुसऱ्या देहाप्रति । स्वीकारी हें चैतन्य ॥१४६॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

अर्जुना हें चैतन्य । अनादिकालापासून ।
तसेंच आहे, निर्माण । -यास कोणी केलें नसें ॥१४७॥
सर्व उपाधिविरहित । हें शुद्ध असें अत्यंत ।
म्हणून कधीं याचा घात । शस्त्रादींनीं होत नाहीं ॥१४८॥
प्रलयकालींच्या जलांत । हें न कधीं भिजलें जात ।
हें अग्नीनें नाही जळत । वा न सुकतें वाऱ्यानें ॥१४९॥
तर्काच्याही दृष्टीसी । हें न दिसतें सर्वाशीं ।
भेट याची घ्यावयासी । ध्यान राही उत्कंठित ॥१५०॥
हें दुर्लभ आहे मनासी । प्राप्त न होतें साधनासी ।
सीमा कसलीच नाहीं यासी । सर्वश्रेष्ठ अनंत हें ॥१५१॥
हें तीन गुणांच्या अतीत । कधीं न सांपडें आकारांत ।
अनादि हें विकाररहित । सर्वव्यापी सर्वरूप ॥१५२॥

अर्जुना हें असें नित्य । अचल तैसेंच शाश्वत ।
सगळीकडे सदोदित । पूर्ण भरून आहे हें ॥१५३॥
१५१ सर्वात्मक हें चैतन्य । तुवा नीट घ्यावें जाणून ।
मग तुझा हा शोक पूर्ण । लया जाई सहजपणें ॥१५४॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

अथवा न जाणतां तत्त्वासी । तूं हें नाशवंतचि मानिसी ।
तरीही उचित नाही तुशीं । पार्था ऐसें शोक करणें ॥१५५॥
उत्पत्ति स्थिति वा अंत । यांचा क्रम अखंड सत्य ।
जैसें गंगेच्या प्रवाहांत । पाणी न जातें खंडलें ॥१५६॥
तें सारखें उगम पावतें । समुद्रा सातत्यानें मिळतें ।
आणि मध्यें दिसून येतें । अखंडपणें वाहतांना ॥१५७॥
तैसें लय-उत्पत्ति-स्थिति । परस्परां धरून राहती ।
ते नच थांबवितां येती । कोणासही कधीं काळीं ॥१५८॥
म्हणोनि या सर्वाकरितां । शोक करिशी कां हा वृथा ।
चालत आली ही व्यवस्था । अनादिकालापासुनी ॥१५९॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

याही वरी उत्पन्न होणें । आणि विनाशा पावणें ।
हेंच जरी तुजसी मनें । उद्वेगकारण वाटलें ॥१६०॥
तरी त्यांसी उपाय नाही । मग कां शोक करिसी पाही ।
जन्ममृत्यू कुणालाही । टाळावया न येताती ॥१६१॥

उपजलें तें नष्ट होतें । नष्ट झालेलें उपजतें ।
रहाटगाडग्यासम येथें । क्रम चालतो अखंड हा ॥१६२॥
अथवा उदय आणि अस्त । आपोआप होती सतत ।
तैसें न चुकती जगांत । जन्ममृत्यू कुणालाही ॥१६३॥
१६१ महाप्रलयाच्या वेळेला । त्रैलोक्यही जातें लयाला ।
म्हणून उत्पत्ति विनाशाला । कोणीही ना टाळूं शके ॥१६४॥
जरी हें असें मान्य तुशीं । तरी खेद का रे करिशी ।
शाहणा असता कां वागसी । अर्जुना वेड्यासारखें तूं ॥१६५॥
आणिकही एका प्रकारीं । विचार तूं केलास जरी ।
दुःख करण्याचें अंतरी । कारण मुळींच दिसतें ना ॥१६६॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

जन्मापूर्वी वस्तुजात । होते अव्यक्त स्थितींत ।
त्या सर्वांना प्राप्त होत । जन्मल्यावरतीं आकार ॥१६७॥
मग जेथें लया जाती । तेथें ना वेगळे उरती ।
ते जाऊन पोंचती । मूळच्या अव्यक्त स्थितीला ॥१६८॥
आतां आरंभ अंताहून । मध्यें जें दिसें वेगळेंपण ।
ती व्यक्तता भ्रम पूर्ण । स्वप्नांतील दृश्यापरी ॥१६९॥
तेवीं ब्रह्म अव्यक्त निर्गुण । आत्मरूप चैतन्यघन ।
तें मायेला वश होऊन । विश्वाकारें भासतसें ॥१७०॥
वायू जलाला शिवल्यावर । जल भासें तरंगाकार ।
सोन्याचे होती अलंकार । घालणाऱ्याच्या इच्छेनें ॥१७१॥

तैसें जें जें आकारयुक्त । तें मायेचें कार्य सत्य ।
जैसें पसरें आकाशांत । पटल अर्जुना मेघांचें ॥१७२॥
तैसें मुळांतचि जें नाहीं । त्यासाठीं तूं रडसी कार्या ।
अर्जुना हें लक्षांत घेई । निर्विकारी चैतन्य तूं ॥१७३॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्ब्रूदति तथैव चान्यः ।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

या चैतन्याची व्हाया प्राप्ति । संत जे चित्तीं तळमळती ।
त्या संतांना सोडून जाती । विषय अर्जुना पहा स्वयें ॥१७४॥
आणि याच्या लाभाकरितां । ज्यांनी घेतली विरक्तता ।
ते संग सोडून पुरता । होती पहा वनवासी ॥१७५॥
१७१ ज्यावर दृष्टि ठेवून । ब्रह्मचर्यादि मुनिजन ।
कठोर व्रतें आचरून । तपश्चर्या करिताती ॥१७६॥
यासी पहाती जे निरखून । त्यांचें स्थिरावें अंतःकरण ।
मग तयांसी विस्मरण । होतें सर्व संसाराचें ॥१७७॥
कित्येक चैतन्याचे गुण । वर्णू जातां सज्जन ।
उपरति होऊन उत्पन्न । तल्लीन होती तें ठार्यां ॥१७८॥
स्वरूप या चैतन्याचें । कार्नी पडलें जयांचें ।
त्या श्रवणें कित्येकांचें । सुटून गेलें देहभान ॥१७९॥
कोणी या चैतन्याठार्यां । अनुभवानें रमले पाही ।
सहज तेणें प्राप्त होई । ब्रह्मासवें तद्रूपता ॥१८०॥
सर्व नद्या जैशारीतीं । सागरामधें मिळून जाती ।
न मावल्यामुळें मागुती । एकही ना परत येई ॥१८१॥

तैसें योगी थोर थोर । होतां आत्मसाक्षात्कार ।
त्यास मिळून देहावर । पुन्हां न येती विवेकानें ॥१८२॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।

तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

ऐसें हें शुद्ध चैतन्य । सर्व देहासी व्यापून ।
सर्वत्र राही परिपूर्ण । विश्वाकारें नटूनिया ॥१८३॥
म्हणून करूं जातांही । घात याचा होत नाहीं ।
अर्जुना हें लक्षांत घेई । सर्वदा तूं चैतन्य ॥१८४॥
याच्या सत्तेनें स्वभावता । येणें जाणें सर्व जगता ।
तरी येथें कशाकरितां । पार्था शोक करिशी तूं ॥१८५॥
अरे पुष्कळ कारणांनी । शोक करणें व्यर्थ जाणी ।
परी हें तुजलागुनी । कां न पटें कळेना तें ॥१८६॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

तूं अजुनी न करिसी विचार । भलता हट्ट धरिसी फार ।
जो तारक तुजसी साचार । तो स्वधर्म विसरलासी ! ॥१८७॥
१८१ या कौरवांचें होवो कांहीं । प्रसंग तुजवर कोणताही ।
ओढवो, वा जरी येई । वेळा युग बुडायची ॥१८८॥
तरी स्वधर्म म्हणून । कांहीं एक असें जाण ।
तो टाकावया येत न । कोणत्याही स्थितिमधें ॥१८९॥
तूं क्षत्रिय असून । कां धरिसी कृपाळूपण ।
याच्यामुळें उद्धरून । जातां येईल तुला कां ? ॥१९०॥



अर्जुना तुझे अंतःकरण । दयेनें गेलें पाघळून ।
 परी युद्धाच्या समयीं जाण । अयोग्य आहे सर्वथा हें ॥१९१॥
 अरे गाईचें दूध जरी । पथ्या हितकर नाही तरी ।
 दुराग्रहानें तरुणज्वरीं । देतां होतें विषासम ॥१९२॥
 तैसें भलतें भलत्यावेळीं । करितां तें हिता जाळी ।
 म्हणून अर्जुना याकाळीं । तूं व्हावें सावधान ॥१९३॥
 व्यर्थ शोकाकुल कां होसी । पहा आपुल्या स्वधर्मासी ।
 ज्याचें आचरण केल्यासी । तें न बाधक होतें कधीं ॥१९४॥
 जेवीं नीट मार्गें चालतां । अपाय न होतो सर्वथा ।
 वा दिवा घेऊन वागतां । अडखळावे लागतें ना ॥१९५॥
 तैसें आचरितां स्वधर्म । अर्जुना तो विनाश्रम ।
 पूर्ण करी सकल काम । टाळून साऱ्या दोषांसी ॥१९६॥
 म्हणून तुम्हां क्षत्रियासी । युद्धावीण या प्रसंगासी ।
 गोष्ट उचित नाही ऐसी । घेतां विचारीं स्वधर्म ॥१९७॥
 कपट न धरितां चित्तांत । आघातासी प्रत्याघात ।
 करावा ठाकून युद्धांत । ऐसा समय प्रत्यक्ष हा ॥१९८॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

१९१ अर्जुना युद्ध हें जें सांप्रतीं । तें दैवें आलें उदयाप्रति ।
 वा प्रगटलें तुम्हांपुढती । निधान साऱ्या धर्माचें ॥१९९॥
 युद्ध न म्हणावें याप्रत । स्वर्ग प्रगटे मूर्तिमंत ।
 वा पराक्रम तुझा समस्त । उगवला साकार होउनी ॥२००॥

: ५८ :



कीर्ति मांडी स्वयंवर । भाळून तुझ्या गुणावर ।
 ती आलीसे येथवर । माळ घालण्या तव कंठीं ॥२०१॥
 थोर पुण्यानें क्षत्रियातें । ऐसें हें युद्ध लाभतें ।
 चिंतामणीची लागते । ठेंच मार्गी जातां जशी ॥२०२॥
 मुख जांभईसी उघडावें । तों त्यांत अमृत पडावें ।
 तैसें प्राप्त झालें बरवें । भाग्यें युद्ध तुम्हांसी हें ॥२०३॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्य संग्रामं न करिष्यसि ।

ततः स्वधर्म कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

ऐसें हें युद्ध टाळावे । नको तें ' रडत बैसावें ' ।
 तरी मग सहजींच व्हावें । स्वतः घातक स्वतःसीचि ॥२०४॥
 जरी अर्जुना तूं या रणीं । शस्त्र दिलेस टाकुनी ।
 तरी पूर्वजांनीं मिळवुनी । ठेविलें तें जाय लया ॥२०५॥
 असलेली कीर्ति जाईल । जग तुझी निंदा करील ।
 आणखी शोधीत येतील । पातकें सारीं तुझ्याकडे ॥२०६॥
 जेवीं मरून जाता नवरा । स्त्रिया पावती अनादरा ।
 तीच त्यजिता स्वधर्म खरा । दशा होईल जीवनाची ॥२०७॥
 रणांगणीं प्रेत पडें । चहूंकडून त्या गिधाडें ।
 तोडितीं तैसा सांपडे । स्वधर्महीन महादोषीं ॥२०८॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।

संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

२०१ म्हणून स्वधर्मा टाकशील । तरी पातका पात्र होशील ।
 आणि तुजसी ना सोडील । कल्पान्तीही अपकीर्ति ॥२०९॥

: ५९ :

सूज़ानें जगावे तोंवर । अपकीर्ति झाली न जोंवर ।
 एकदां ती पसरल्यावर । सुटका होई सांग कशी ? ॥२१०॥
 तूं मत्सरासी टाकून । दयेनें युक्त होऊन ।
 परत फिरशी रणांतून । परी तें ना पटेल या ॥२११॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।

येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

कौरव तुजसी घेरतील । बाणांचा वर्षाव करतील ।
 त्यांतून तूं ना सुटशील । नुसत्या कृपाळूपणानें ॥२१२॥
 प्राणसंकटांतून त्या जरी । तुझी सुटका झाली तरी ।
 तें जगणेंही मरणा वरी । अपमानास्पद होईल ॥२१३॥
 तूं न विचारी कसें घेशी । आलास उत्सुक युद्धासी ।
 आणि आतां परत फिरसी । दया उत्पन्न झाल्यामुळें ॥२१४॥
 तरी ही तुझी भावना । तुझ्या या दुष्ट शत्रूंना ।
 सांग मजसी अर्जुना । काय खरी वाटे कधी ? ॥२१५॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।

निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

ते म्हणतील हा पळाला । अर्जुन आम्हां घाबरला ।
 ऐसा जरी ठपका आला । सांग तरी तें चांगले कां ? ॥२१६॥
 लोक नानापरी कष्टति । प्रसंगी प्राणही वेंचिति ।
 अर्जुना परी निजकीर्ति । वाढविते प्रयत्नानें ॥२१७॥
 ती तुजसी या स्थलीं । अनायासें प्राप्त झाली ।
 जैसें भरलें अंतराळीं । अद्वितीय आकाश हें ॥२१८॥

२११ तैसी उपमारहित अनंत । कीर्ति राहते तुझ्यांत ।
 तिन्हीं लोकामधें विख्यात । उत्तम गुण असती तुझे ॥२१९॥
 देशोदेशीचे भूपति । भाटासम तव कीर्ति गाती ।
 जी पडतां कानावरतीं । यमासहि वाटें भय ॥२२०॥
 ऐसा तुझा महिमा थोर । गंगेसारिखा निर्मळ फार ।
 मी मी म्हणणारेही वीर । ज्या पाहतां चकित होती ॥२२१॥
 तुझे तें पौरुष ऐकुनी । हे सर्वही आपुल्या मनीं ।
 जीविताची आशा सोडुनी । निराश झाले असती कीं ॥२२२॥
 जैसें सिंहाच्या गर्जनेंत । हत्तीस वाटतो कल्पान्त ।
 तैसें कौरव हे समस्त । धाक धरिते चित्तीं तुझा ॥२२३॥
 पर्वत जसें वज्रा भिती । सर्प गरुडा घाबरती ।
 तसें अर्जुना हे मानिती । तुजसी सदा सर्व्ठायीं ॥२२४॥
 तें महत्त्व जाईल लया । हीनता लाभेल ये ठाया ।
 जरी तूं आतां धनंजया । माघारी जाशी रणांतुनी ॥२२५॥
 हे पळूंही ना देतील । धरोनि फजिती करतील ।
 अमर्यादपणें निंदतील । तें एकावें लागेल तुला ॥२२६॥
 मग तुझे, ती निंदा ऐकून । -हृदय होईल विदीर्ण ।
 तरी आतांच धैर्य धरून । युद्ध कां ना करिशी हें ॥२२७॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

जरी तूं या युद्धाठायीं । अर्जुना होशील विजयी ।
 तरी पृथ्वीतल सर्वही । लाभेल तुला भोगावया ॥२२८॥



किंवा लढतां रणांत । मृत्यू आला तुजप्रत ।
 तरी अनायासें प्राप्त । स्वर्ग-सुख होईल तुला ॥२२९॥
 २२१ म्हणून फार याचा आतां । विचार ना करी चित्ता ।
 ऊठ धनुष्य घेई हातां । आणि युद्ध करी त्वरें ॥२३०॥
 अरे आचरितां स्वधर्मासी । तो नाशी असत्या दोषासी ।
 मग कोटून झाला तुजशी । भ्रम येंथें पातकांचा ॥२३१॥
 काय बुडती नावेमुळें । कां सरळ मार्गी अडखळें ।
 परी नीट न चालतां आलें । तरी तेही घडून ये ॥२३२॥
 अमृतानेंही मरण येत । जरी विषासह सेविलें जात ।
 तैसा स्वधर्महि दोषा निर्मित । केल्या सकाम भावानें ॥२३३॥
 म्हणून तूं येंथें पार्था । कामना टाकून सर्वथा ।
 क्षात्रवृत्तीनें युद्ध करितां । पाप न लागें तुज कांहीं ॥२३४॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

हर्ष न मानी सुखावेळीं । खिन्नता न धरी दुःखकालीं ।
 आणि लाभ हानी ही मुळीं । मनामध्ये न ठेवावी ॥२३५॥
 विजयश्री लाभेल येंथें । वा शरीर पडेल रणातें ।
 हें पुढचें कांहींच चित्तें । तुवां लक्षांत घ्यावें ना ॥२३६॥
 स्वधर्मानें आपणांप्रत । जें जें कांही असें उचित ।
 तें आचरितां जें जें प्राप्त । होईल तें तें सोसावें ॥२३७॥
 ऐशी धारणा झाली जरी । दोष न लागे कुठला तरी ।
 म्हणोनि पार्था युद्ध करी । निःशंकपणें आतां हें ॥२३८॥

: ६२ :



एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोगे त्विमां शृणु ।
 बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥
 ज्ञानयोग आतांपर्यंत । सांगितला तुज थोडक्यांत ।
 आतां बुद्धियोग ऐके निश्चित । निष्काम कर्म योग रूपी ॥२३९॥
 २३९ ज्या बुद्धियोगाची प्राप्ति । झाल्या कर्मकर्त्यांप्रति ।
 बाधू न शकतीं कोणतीं । कर्म तया कधीं काळीं ॥२४०॥
 कर्म शुद्धपणें जेंथें । अखंड चालूं राहतें ।
 परंपरेनें जे येतें । चालत पूर्वींपासुनी ॥२४१॥
 कर्मयोग जो हा असा । तो ऐहिकाच्या न करी नाशा ।
 आणि मोक्षाचाही भरंवसा । लाभतो या योगाने ॥२४२॥
 जसें अंगा घालितां चिलखत । शस्त्रवर्षहि ना बाधत ।
 वरी विजयहि निश्चित । मिळवितां ये रणांगणीं ॥२४३॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

स्वधर्मे कर्म आचरावें । परी कर्मफळां न अपेक्षावें ।
 ही सदबुद्धि जीवेभावें । ज्यानें केली आपुलीशी ॥२४४॥
 उपाधीत राहून त्यासी । उपाधि न बाधे अल्पांशी ।
 जैसे मंत्र जाणणारासी । होऊं न शके भूतबाधा ॥२४५॥
 ज्या सदबुद्धिचे ठायीं । पापपुण्याचा स्पर्श नाही ।
 विवेकें जी सूक्ष्म पाही । आणि निश्चल झाली असे ॥२४६॥
 सत्त्वरजतमादि गुण । वा त्यांचे विकार दारुण ।
 यांचा ज्या बुद्धिकारण । स्पर्शहि जाहला नसे ॥२४७॥

: ६३ :

भाग्यें त्या बुद्धीचा हृदयास । जरी थोडासा लाभे प्रकाश ।
तरी संसारभयाचा नाश । अर्जुना होतो पूर्णपणें ॥२४८॥
जरी ज्योत दिव्याची लहान । तरी प्रकाश देते महान् ।
तैसें या सद्बुद्धीस म्हणून । सान अल्प म्हणूं नये ॥२४९॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

या बुद्धीची व्हावी प्राप्ति । असे विचारवंतही इच्छिती ।
कारण अर्जुना या जगती । सुबुद्धि ही दुर्लभ असे ॥२५०॥
इतर वस्तूंच्या प्रमाणें । परिस न लाभे विपुलतेनें ।
वा मिळतो महद्भाग्यानें । अमृताचा अंश थोडा ॥२५१॥
२४९ तैशी सुबुद्धी ही दुर्मिळ । जिचें परमात्मा ध्येय केवळ ।
जैसें गंगेप्रति सकळ । समुद्र हीच एक गति ॥२५२॥
तैसें ईशावांचून अन्य । जिला नाही आश्रयस्थान ।
पार्था त्या बुद्धिकारण । सद्बुद्धि ऐसें म्हणावें ॥२५३॥
याहून जी कोणी वेगळी । विकार पावते वेळोवेळीं ।
दुर्बुद्धि ती पहा ठरली । अविचारी रमती तिथें ॥२५४॥
म्हणून स्वर्ग नर्क संसार । भ्रमवित्ती त्या निरंतर ।
लाभतें ना क्षणभर । अज्ञाना त्या आत्मसुख ॥२५५॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥

ते अज्ञानी जरी असती । तरी वेदाच्या आधारें बोलती ।
कर्मफळावरी आसक्ति । ठेवून कर्मा प्रस्थापिती ॥२५६॥

म्हणती संसारी जन्मा यावें । यज्ञयागादी कर्म करावें ।
ज्याच्याबळें उपभोगावें । पुढें रम्य स्वर्गसुख ॥२५७॥
या वाचून अन्य कांहीं । येथें दुसरें सुख नाही ।
ऐसें सर्वत्र करिती पाही । दुर्बुद्धीनें प्रतिपादन ॥२५८॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

नाना कामना धरून पोटीं । सुखोपभोगीं ठेवून दृष्टि ।
सर्व कर्म उठाउठी । करितीं पहा दक्षतेनें ॥२५९॥
शास्त्र-विधीनें क्रिया करिती । तेथें चूक न होऊं देती ।
सावधपणानें अनुष्ठिति । धर्माचें सर्व कर्मकांड ॥२६०॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

हे सर्वही असें ठीक । परि एकचि करिती चूक ।
होऊन स्वर्गाचे कामुक । उपेक्षिती ईश्वरातें ॥२६१॥
अर्जुना जो ईश्वर । यज्ञपुरुष खरोखर ।
यज्ञाचा भोक्ता निर्धार । तेथ लक्ष यांचें नसें ॥२६२॥
२५९ जैशी कापुराची करावी रास । आणि अग्नि लावावा तियेस ।
वा कालवावें भयद विष । मिष्ट पौष्टिक अन्नामधें ॥२६३॥
दैवानें अमृतकुंभ लाभला । तो लाथेनें पालथा केला ।
तैसें हे नाशिती धर्माला । कामना ठेवून फळाची ॥२६४॥
पुण्य परिश्रमानें जोडावें । मग कां संसार अपेक्षावे ।
परी न जाणती काय करावें । सुबुद्धि ना लाभली तया ॥२६५॥

जेवीं करून उत्तम अन्न । सुगरिणीनें टाकावें विकून ।
 तैसें हे अविवेकी जन । धर्म नाशितो भोगास्तव ॥२६६॥
 सकाम कर्माची प्रेरणा । हें वेदाचें उद्दिष्ट ना ।
 परी त्याचाच खरेंपणा । वाटतो या कामुकासी ॥२६७॥
 उथळ वेदार्थ पाहून । कर्मांत होती रममाण ।
 म्हणून दुर्बुद्धि हें पूर्ण । ओळखावें पार्था तुवां ॥२६८॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो नियोगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

तिन्हीं गुणांनीं ओतप्रोत । वेद भरलेले आहेत ।
 त्यांतील एक उपनिषदांत । राहतसे सत्त्वगुण ॥२६९॥
 प्रलोभन दावून स्वर्गाचें । कर्मकांड कथिलें यज्ञादींचें ।
 अशा सर्व वेदभागांचें । आश्रयस्थान रजतम ॥२७०॥
 तो वेदभाग म्हणून । होतो सुखदुःखा कारण ।
 यासाठीं तूं आपुलें मन । तिकडे जाऊं देऊं नको ॥२७१॥
 टाकून द्यावे तिन्ही गुण । ना धरी 'मी माझें' -पण ।
 तूं आपुल्या अंतरांतून । आत्मसुखा विसरूं नको ॥२७२॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।

तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

बहुत गोष्टी वेदांनीं । कथिल्या विविध प्रकारांनीं ।
 परी आपण तयांतुनी । निजहिताचें तें घ्यावें ॥२७३॥
 २६९ जेवीं सूर्यबिंब उगवलें । तरी मार्ग दिसती सगळे ।
 म्हणूनी कां कोणी चालले । त्या सर्वही रस्त्यांनीं ॥२७४॥

: ६६ :

सर्वत्र पृथ्वीतळावरी । पाणी पसरलें असे जरी ।
 आपण घ्यावें त्यांतून परी । आपुल्या गरजेप्रमाणें ॥२७५॥
 तसें असती जे ज्ञानवंत । ते वेदाज्ञा घेती विचारांत ।
 मग त्यांतील जें इष्ट शाश्वत । तेवढें ते स्वीकारिती ॥२७६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

या दृष्टीनें करितां विचार । त्याचें ऐक हेंच सार ।
 कीं तूं आपुलें कर्म कर । तेंच उचित आतां तुला ॥२७७॥
 सर्व घेऊन विचारांत । माझें आहे हेंच मत ।
 कीं तुवां स्वकर्म विहित । केव्हांही ना टाकावें ॥२७८॥
 कर्मफळाची आशा परी । कधींही ना चितीं धरी ।
 सदाचाराते अंगीकारी । कुकर्माकडे वळूं नको ॥२७९॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

हा कर्मयोग स्वीकारी । फळाशेसी दूर सारी ।
 मग विहित तीं कर्मे करी । मनापासून अर्जुना तूं ॥२८०॥
 दैवें परी आरंभिलेलें । कर्म जरी शेवटां गेलें ।
 तरी अर्जुना त्याचेंमुलें । संतुष्ट विशेष व्हावें ना ॥२८१॥
 वा कांहीं निमित्त घडून । कार्य न जाहलें संपूर्ण ।
 तरी त्या अपयशें मन । क्षुब्ध न होऊं द्यावें तूं ॥२८२॥
 आरंभिलेलें सिद्धी गेलें । तरी म्हणावें बरेंच झालें ।
 परी अपूर्ण जरी राहिलें । तरी मानी कृतार्थता ॥२८३॥

: ६७ :

२७१ कर्म घडें जें हातून । तें करी ईश्वरार्पण ।
तेणें तें कर्म परिपूर्ण । सहजपणानें होतें पहा ॥२८४॥
पूर्ण अपूर्ण कर्माविषयी । समत्वबुद्धि जी कां हृदयीं ।
तीच योगस्थिति पाही । वाखाणिती श्रेष्ठ जिला ॥२८५॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्भ्रनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

अर्जुना चित्ताचें हें समत्व । तें जाणावें योगाचें सत्व ।
जेथें पावती एकत्व । मन आणि बुद्धि दोन्ही ॥२८६॥
या बुद्धियोगाच्या तुलनेनें । जें सकाम कर्म करणें ।
तें दिसें अगदींच उणें । ऐसा थोर बुद्धियोग ॥२८७॥
परी कर्माचें आचरण । तेंच या योगाचें साधन ।
कर्तृत्व फलाशा टाकून । कर्म उरें, तो बुद्धियोग ॥२८८॥
म्हणून बुद्धियोगाचा आधार । घेऊन तूं होई स्थिर ।
आणि मनानें करी अव्हेर । अर्जुना तूं फलाशेचा ॥२८९॥
जे बुद्धियोग हा स्वीकारिती । तेच संसारा तरून जाती ।
पापपुण्याचीं ना उरती । दोन्हीहीं तया बंधनें ॥२९०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

: ६८ :

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

ते जरी कर्मे करिती । परी न धरिती फलासक्ति ।
म्हणून त्यांच्या संपताती । जन्ममृत्यूच्या येरझारा ॥२९१॥
मग हे बुद्धियोगानें युक्त । पावती त्या स्थानाप्रत ।
प्रसन्नता राहते जेथ । वा न जें ढळें कधीं काळीं ॥२९२॥
मनीं धरून वैराग्यासी । तूं जयीं हा मोह सोडसी ।
तरी अर्जुना या स्थितीसी । तूंही प्राप्त होशील ॥२९३॥
२८१ मग आत्मज्ञान उपजेल । सखोल विशाल निर्मल ।
तेणें तुझें चित्त होईल । सहज पार्था निरपेक्ष ॥२९४॥
मग त्यामुळें अधिक कांहीं । जाणावयाचें उरत नाही ।
वा मागचें स्मरावें हेंही । जेथल्या तेथें थांबतसें ॥२९५॥
इंद्रियांच्या लागून नादीं । स्वैर जी धांवतें बुद्धि ।
ती आत्म्याच्या रूपामधीं । मार्गें वळून स्थिरावेल ॥२९६॥
समाधीसुखांत केवळ । जयीं बुद्धि होईल निश्चल ।
तयीं तुजसी प्राप्त होईल । बुद्धियोग हा पूर्णपणें ॥२९७॥

अर्जुन उवाच ।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत ब्रजेत किम् ॥५४॥

तेव्हां अर्जुन म्हणें कृष्णासी । देवा याचि विषयासी ।
नीट इच्छितो जाणायासी । कृपाळा तो सांगा मज ॥२९८॥

: ६९ :

तेव्हां म्हणाले श्रीकृष्ण । अर्जुना सुखें करी प्रश्न ।
 तूं आपलें मोकळें मन । करोनिया ये ठायीं ॥२९९॥
 कृष्ण ऐसे बोलतां । अर्जुन म्हणें सांग आतां ।
 आम्ही कैशापरी तत्त्वतां । स्थितप्रज्ञासी ओळखावें ॥३००॥
 स्थितप्रज्ञ ज्यास म्हणती । तयाचीं लक्षणें कोणती ।
 जो समाधि सुखाप्रति । अखंडपणें भोगीतसे ॥३०१॥
 तो कोण्या स्थितीत राहतो । कोणत्या प्रकारें वागतो ।
 कैसा बोलतो चालतो । तें सारें सांग कृष्णा ॥३०२॥
 तयीं परब्रह्माचा अवतार । जो सर्व गुणांचे मंदीर ।
 तो ते ठायीं शाङ्गधर । बोलला जें तें एकावें ॥३०३॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्यार्थ मनोगतान् ।
 आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

२९९ ऐक म्हणे अर्जुनाप्रति । चित्तामध्ये जी विषयासक्ति ।
 पहा अडथळे आणिते ती । आत्मसुखाच्या अनुभवीं ॥३०४॥
 सर्व जीव स्वभावाने । नित्य तृप्त पूर्णपणें ।
 परी ते वासनेच्या संगानें । विषयीं पतन पावती ॥३०५॥
 ती वासना ज्यांची सगळीं । पूर्णपणें निघून गेली ।
 त्यांचीच वृत्ति स्थिरावली । संतोषामधें आत्म्याच्या ॥३०६॥
 ऐसा आत्मसुखांत निमग्न । जो पुरुष असे जाण ।
 तोचि स्थितप्रज्ञ म्हणून । ओळखावा अर्जुना तूं ॥३०७॥

: ७० :

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
 वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

विविधदुःखें होतां प्राप्त । उद्विग्न त्याचें नसें चित्त ।
 वा न त्यासी गुंतवीत । प्रबळ इच्छा सुखाची कीं ॥३०८॥
 अर्जुना मग त्याच्याठायीं । कामक्रोध सहज नाहीं ।
 परिपूर्ण तो होऊन राही । भय तयासी ठावें नसें ॥३०९॥
 सर्व उपाधि टाकून । जो झालासे भेदहीन ।
 निःसीम भोगी आत्मज्ञान । स्थितप्रज्ञ जाणावा तो ॥३१०॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
 नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

ज्याचें सदैव सगळीकडें । समत्वानें वर्तन घडें ।
 पूर्ण चंद्राचा प्रकाश पडे । सारखा जेवीं सुष्टुदुष्टा ॥३११॥
 समता ज्याची अखंडित । दया भूतमात्रीं अत्यंत ।
 ज्याचें कोणत्याहि स्थितीत । चित्त चंचल होतें ना ॥३१२॥
 कांहीं घडतां चांगले । चढे न त्या यशामुळे ।
 वा इच्छेविरुद्ध झालें । तरी विषण्ण होतो ना ॥३१३॥
 असा जो हर्षशोकरहित । आणि जयाच्या हृदयांत ।
 आत्मबोध भरला सत्य । स्थितप्रज्ञ जाणावा तो ॥३१४॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
 इन्द्रियाणीन्द्रियार्थभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

३०१ जेवी प्रसन्न असतां कासव । पसरी आपुले अवयव ।
 वा मनांत आलें तंव । आवरून घेई तया ॥३१५॥

: ७१ :

तैशी ज्याची इंद्रियांवरी । सत्ता चाले सर्वतोपरी ।
तो जें सांगे तेंच तरी । करिती त्याचीं इंद्रियें ॥३१६॥
इंद्रियें झाली सेवक । तो तयांचा स्वामी देख ।
अर्जुना तयाची निःशंक । जाणे प्रज्ञा स्थिरावली ॥३१७॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

आतां अर्जुना आणिक एक । सांगतों तुज कौतुक ।
पहा या विषयासी साधक । टाकून देती निग्रहानें ॥३१८॥
श्रोत्रादि इंद्रियें आवरती । परी जिभेस न आळा घालिती ।
ते विषयामार्जी गुंतती । सहस्रावधि प्रकारांनीं ॥३१९॥
वर वर पाना तोडिलें । आणि मुळा पाणी घातलें ।
तरी कां तें झाड भलें । वटून नष्ट होईल ? ॥३२०॥
घातिल्या जलानें उलट । वृक्ष फोंफावतो नीट ।
तैसें मनामधें पुष्ट । विषय होती जिभेमुळें ॥३२१॥
इतर इंद्रियां आवरणें । जैसें साधें सहजपणें ।
ती निज विषयाकारणे । टाकिती थोड्या परिश्रमें ॥३२२॥
तैसें रस वा रसनेसी । हट्टानें न ये आवरायासी ।
कारण जीवन चालायासी । त्यांचाच लागतो आधार ॥३२३॥
परी अर्जुना स्वभावता । ब्रह्माचा अनुभव लाभतां ।
तयावेळीं सहज करितां । येंतें रसाचें नियमन ॥३२४॥
' ब्रह्म मी ' ही अनुभूति । जयीं प्रगटते निश्चिंति ।
तयीं इंद्रियें विषया टाकितीं । आणि नुरतो देहभाव ॥३२५॥

: ७२ :

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

इंद्रियें पहा हीं अर्जुना । मोजितीं ना साधनांना ।
जरी आवरण्या तयांना । साधक वागे दक्षतेनें ॥३२६॥
इंद्रियांवरतीं पहारा । अभ्यासाचा ठेविती पुरा ।
यमनियमांचे सभोंवारा । चांगलें कुंपण घालिती ॥३२७॥
मनावरी नियंत्रण । ठेविती मुठींत धरून ।
तेही पहा साधकजन । इंद्रियापुढें दीन होती ॥३२८॥
प्रतापीं हीं इंद्रियें अशीं । फार छळतीं साधकासी ।
जेवी चांगल्या मांत्रिकासी । साधनीं चकवी डाकिनी ॥३२९॥
ऋद्धिसिद्धींच्या रूपानें । विषय करिती आक्रमणें ।
मग इंद्रियांच्या द्वारानें । घेरिती त्या साधकाला ॥३३०॥
मन गुंतें त्या मोहांत । तेणें अभ्यासी पांगळे होत ।
ऐसें सामर्थ्य बहुत । आहें पहा इंद्रियांचे ॥३३१॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

म्हणून विषयाची आसक्ति । नाहींशी करून पुरती ।
पार्था जो या इंद्रियांप्रती । निग्रहें ठेवी कवळून ॥३३२॥
विषयसुखाची लालसा । फसवी न ज्याच्या मानसा ।
जाणावें तूं त्याच पुरुषा । योग-निष्ठेचा अधिकारी ॥३३३॥
जो आत्मबोधानें युक्त । होऊन राही सतत ।
आणि मजसी हृदयांत । जो कधींही विसरतो ना ॥३३४॥

: ७३ :

नाहीं तरी बाहेरूनी । विषय दिधले टाकुनी ।
परी वासना अंतःकर्णी । राहता बाधे संसार हा ॥३३५॥
जैसा विषाचा एक कण । घेता व्यापी शरीरा पूर्ण ।
आणि शेवटीं जीवन । नष्ट करी निःसंशय ॥३३६॥
तेवीं विषयाचा या स्पर्श । थोडा जरी झाला मनास ।
तरी त्यामुळे विनाश । होतो साऱ्या विवेकाचा ॥३३७॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

३२१ विषयाची केवळ होतां स्मृति । विरक्ताहि विषय रुचती ।
त्या रुचीची आसक्ति । कामरूपें प्रगट होई ॥३३८॥
जेथें काम होतो निर्माण । तेथें क्रोध आधींच जाण ।
पुढती क्रोधांमधून । संमोह वाढूं लागतो ॥३३९॥
संमोह तो होता व्यक्त । स्मृतीचा होतो अंत ।
जेवीं सोसाट्याच्या वाऱ्यांत । ज्योत जाई विझोनिया ॥३४०॥
वा अस्तमानाच्या समयास । अंधार गिळी प्रकाशास ।
स्मृतिभ्रंशानें त्या स्थितीस । प्राप्त होती ते प्राणी ॥३४१॥
असा अज्ञानाचा अंधार । पसरतसे सर्व दूर ।
तेणे बुद्धीसी खरोखर । व्याकुळता ये हृदयांत ॥३४२॥
जसा आंधळा जन्मजात । सांपडे पळापर्ळीत ।
दीन स्वैरपणें धांवत । तैसी बुद्धि भ्रम पावे ॥३४३॥

स्मृतिभ्रंश घडतां अर्जुना । होते बुद्धीची कुचंबणा ।
तेणे मुळापासूनि ज्ञाना । नष्ट व्हावें लागतें ॥३४४॥
जैसें चैतन्य गेल्यावरती । शरीराची होतसे स्थिति ।
बुद्धीनाशानें तीच गति । प्राप्त होते पुरुषा त्या ॥३४५॥
म्हणून अर्जुना पहा जेवीं । इंधनीं ठिणगी पडावी ।
ती भडकल्यावरी बरवी । जाळूं शके त्रिभुवनाला ॥३४६॥
तैसें विषयाचें चिंतन । जरी चुकून करी मन ।
तरी नाशापर्यंत पतन । टाळतां ना येतें कधीं ॥३४७॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

३३१ म्हणून विषय हे संपूर्ण । काढून टाकी मनांतून ।
म्हणजे स्वभावें करून । हवें नको मावळेल ॥३४८॥
अर्जुना महत्वाचे एक । ठेव ध्यानामधें आणिक ।
जेव्हां मनांतुनी निःशंक । राग द्वेष नष्ट होती ॥३४९॥
तेव्हां इंद्रियें विषयांत । जरी रमली कदाचित् ।
तरी त्या विषयसेवनांत । बाधकता येते ना ॥३५०॥
जैसा सूर्य आकाशीं स्थित । किरणांनीं जगा स्पर्शित ।
परी सूर्यासी ना लागतात । जगतामुळें संगदोष ॥३५१॥
तैसा इंद्रियांच्या विषयाठायीं । जो आसक्त नसे हृदयीं ।
आणि सर्वदा तल्लीन राही । जो आत्मानंदामधें ॥३५२॥
कामक्रोधानें विहीन । झालें ज्याचें अंतःकरण ।
तेणे ज्याचें मावळून । हवे नको पार गेले ॥३५३॥

आत्मस्वरूपावांचून । विषयांत ना पाही अन्य ।
 त्यासी विषय कसले कवण । आणि बाधती कवणासी ॥३५४॥
 जरी बुडेल जल जलें । वा अग्नि अग्नीस पोळे ।
 तरी विषयाचें सेवन भलें । बाधेल त्या पूर्णपुरुषा ॥३५५॥
 ऐसा आत्मस्वरूप होऊनी । जो राही सर्वा व्यापुनी ।
 निःशंकपणें तरी तूं मानी । त्याची प्रज्ञा स्थिरावली ॥३५६॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

सर्वदा अभंग प्रसन्नता । भरून राही ज्याच्या चित्ता ।
 तेथें न ये प्रवेश करितां । संसारदुःखा कोणत्याहि ॥३५७॥
 अमृताचा उपजत । जरी झरा उदरांत ।
 तरी न जेवीं राहत । भीति तहान भुकेची ॥३५८॥
 तैसें प्रसन्न होता हृदय । दुःख उरें कुणा काय ।
 मग सहजीं स्थिर होय । बुद्धि परमात्मस्वरूपीं ॥३५९॥
 ३५१ दिवा निवातस्थलीं ठेविला । तरी थरथर नसे ज्योतीला ।
 तैसा तो योगयुक्त राहिला । स्थिरबुद्धीनें आत्मरूपीं ॥३६०॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

योगयुक्त होण्याची युक्ति । गवसली ना ज्यासी चिर्ती ।
 त्यासी बांधून टाकित्ती । विषय आपुल्या गुणानें ॥३६१॥
 मग त्याची बुद्धि स्थिर । कधीं न होते क्षणभर ।
 वा बुद्धि व्हावी स्थिर । ऐशी न उरे आस्थाही ॥३६२॥

: ७६ :

निश्चल व्हावें ही भावना । जरी कधीं नुपजे मना ।
 तरी त्यास पहा अर्जुना । शांती कोटून लाभेल ॥३६३॥
 ओलावा शांतीचा न जेथें । सुख नुपजें चुकून तेथें ।
 जैसें कधीं न प्राप्त होतें । पातक्यासी कैवल्य ॥३६४॥
 अग्नीमधें जळालेलीं । बीजें जरी अंकुरलीं ।
 तरी अशांतासी लाभली । सुखें ऐसें घडूं शके ॥३६५॥
 म्हणून मनाचें चंचलपण । हें सर्व दुःखाचें कारण ।
 यास्तव इंद्रियांचें दमन । निग्रहानें करणें बरें ॥३६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

इंद्रियें जें जें सांगतीं । तें तें जे पुरुष करिती ।
 ते जरी तरलो म्हणती । तरी न सुटती विषयांतुनी ॥३६७॥
 नांव कांठासी पोंचलेली । जरी वादळीं सांपडली ।
 तरी दुर्गति टळलेली । पुन्हां येते ओढवून ॥३६८॥
 तसें आत्मप्राप्तीच्या ध्येयाला । पुरुष जो कोणी पोंचला ।
 त्यानें जरी इंद्रियाला । लाडावलें कौतुकानें ॥३६९॥
 तरी आक्रमण तयावरी । करिती संसारदुःखें सारीं ।
 यास्तव सर्वदा अंतरी । सावध राहिले पाहिजे ॥३७०॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

३५१ आपणा इंद्रियें आपुलीं । जरी नियंत्रित करितां आलीं ।
 तरी त्याहून अधिक नुरली । पार्था अन्य कृतकृत्यता ॥३७१॥

: ७७ :

प्रसन्न असतांना कांसव । पसरी आपुले अवयव ।
 आणि मनीं आणितां लव । सहजपणें आवरी त्या ॥३७२॥
 आज्ञाधारक तैशापरीं । इंद्रियें ज्याचीं झालीं पुरी ।
 अर्जुना त्याची खरोखरी । प्रज्ञा जाणें स्थिरावली ॥३७३॥
 आतां एक कथितों गहन । पूर्ण पुरुषाचें लक्षण ।
धरोनिया सावधपण । अर्जुना तें तूं ऐकावें ॥३७४॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

जे ठायीं सर्व प्राणी । अर्जुना जाती झोपुनी ।
 तेथेंच जयालागुनी । पूर्णपणें उजाडतें ॥३७५॥
 आणि सर्व प्राणी जागृत । असती ज्या विषयांत ।
 ते ठायीं निद्रिस्त । आत्मज्ञानी योगी हा ॥३७६॥
 ऐसें ज्याचें वर्तन । अर्जुना असें परिपूर्ण ।
 तोच उपाधिविहीन । झाला ऐसें जाणावें ॥३७७॥
 आणि त्या मुनीश्वराची । स्थिरावली बुद्धि साची ।
 तेवी असे ब्रह्मत्वाची । तोचि जाणें परमावधि ॥३७८॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्दत् ।

तद्रूत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

आणिक एका लक्षणानें । शक्य त्यासी ओळखणें ।
 जेवी शान्तता अखंडपणें । सागरामध्यें राहते ॥३७९॥
 नद्या पुरांनी भरलेल्या । सर्वही जरी मिळाल्या ।
 तरी मर्यादेसी आपुल्या । समुद्र कधीं ना सोडितो ॥३८०॥

: ७८ :

किंवा नद्या उन्हाळ्यांत । जरी आटुनी जातात ।
 तरी त्यामुळें समुद्रांत । उणीव कांहीं पडते ना ॥३८१॥
 तैसें ऋद्धिसिद्धी लाभतां । हर्षोद्रेक न वाटे चित्ता ।
 वा कांहीं प्राप्त न होता । धीर न सुटतो जयाचा ॥३८२॥
 ३६९ सांग काय सूर्याघरीं । प्रकाश वात लावल्यावरी ।
 वा वात न लावतां, अंधारीं । सूर्य कां जातो बुडून ॥३८३॥
 तेवी ऋद्धिसिद्धी आली गेली । यास न त्याची क्षिती मुळीं ।
 वृत्ती ज्याची रंगून गेली । थोर सौख्यांत आत्म्याच्या ॥३८४॥
 जो आत्म्याच्या संतोषानीं । इंद्रभुवना तुच्छ मानी ।
 पडेल कां त्यालागुनी । मोह भिल्लाच्या खोपटाचा ॥३८५॥
 जो अमृतासी नावें ठेवी । तो कां म्हणें कांजी प्यावी ।
 तैसें आत्मसुखा जो अनुभवी । मोह न त्यासी ऋद्धीचा ॥३८६॥
 पार्था आत्मसुखापुढें । स्वर्गाचें सुखही तोकडे ।
 तेथ कोण हे बापुडे । लाभ ऋद्धिसिद्धीचें ॥३८७॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

ऐसा तोषला आत्मज्ञानें । पोसला परमानंदानें ।
 ओळखावें त्या निश्चयानें । स्थितप्रज्ञ म्हणून तूं ॥३८८॥
 तो अहंकार घालवून । सर्व कामना सोडून ।
 स्वयें विश्वरूप होऊन । वावरतो या विश्वामधें ॥३८९॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

: ७९ :

ही अनंत ब्रह्मस्थिति । निष्काम झाले ते भोगिती ।
 अनायासे प्राप्त होती । परब्रह्म पदासी ते ॥३९०॥
 मृत्यू दिसतां समोरी । व्याकुळतां ये अंतरी ।
 तिची न होते बाधा खरी । कधीं या स्थितप्रज्ञासी ॥३९१॥
 चित्तीं भरें आत्मज्ञान । जाई चैतन्यीं मिसळून ।
 बुद्धि स्थिरावे परिपूर्ण । तीच ही ब्राह्मी स्थिति ॥३९२॥
 या स्थितीचें वर्णन । आपुल्या मुखांमधून ।
 अर्जुना करी श्रीकृष्ण । ऐसें सांगे संजय ॥३९३॥
 ३७१ ती कृष्णवचनें ऐकुनी । तेथ अर्जुन म्हणे मनीं ।
 कृष्णाची ही विचारसरणी । माझ्याचि पडे उपयोगी ॥३९४॥
 कारण येथें श्रीकृष्ण । करी कर्माचें निराकरण ।
 मग ' युद्ध करी ' म्हणून । बोलला तें सरलें कीं ॥३९५॥
 श्रीकृष्णाचें बोलणें । या भावनेनें अर्जुनें ।
 घेतलें मग सहज तेणें । वाटली त्या प्रसन्नता ॥३९६॥
 परी येण्या निर्णयावरी । शंका घेऊन प्रश्न करी ।
 तो प्रसंग खरोखरी । सुरस मनोज्ञ आहे कीं ॥३९७॥
 तो संवाद सुंदर । सकल धर्माचें भांडार ।
 वा अपार विस्तृत सागर । विवेकरूपी अमृताचा ॥३९८॥
 त्या विषयाचें निरूपण । करील सर्वज्ञ श्रीकृष्ण ।
 तें ज्ञानदेव म्हणती सांगेन । शिष्य निवृत्तिनाथांचे ॥३९९॥



॥ श्रीशंकर ॥

अनुवाद ज्ञानेश्वरी

—३८०—३९१—३९२—३९३—३९४—३९५—३९६—३९७—३९८—३९९—

अध्याय तिसरा

श्रीगणेशाय नमः ।

अर्जुन उवाच ।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

१ मग अर्जुन म्हणें ते ठायीं । देवा तुम्हीं जे बोलला कांहीं ।
 तें मी ऐकिलें सर्वहि । विचारपूर्वक माधवा ॥ १ ॥
 तेथ कर्म आणि कर्ता । उरत नाहीं पाहतां ।
 विचारें ऐसें, अनंता । मत निश्चित तुझें जरी ॥ २ ॥
 तरी मग कां येथे मजसी । ' अर्जुना लढ ' ऐसें म्हणसी ।
 लाज न वाटें तुला कशी । गुंतवितां या घोरकर्मीं ॥ ३ ॥
 सर्व कर्मांचा निःशेष । तूंच करिसी निरास ।
 मग या हिंसक युद्धास । करविशी कां मज हातीं ॥ ४ ॥

पहा विचार करून । तूं न कर्मा देशी मान ।
मग कां माझ्या हातून । थोर हिंसा घडविशी ही ॥ ५ ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

देवा तूंच ऐसें बोलणें । केल्या मी अज्ञान्यानें ।
काय करावें, वाटतें जिणें । संपलें आतां विवेकाचें ॥ ६ ॥
या तुझिया भाषणास । जरी म्हणावा हितोपदेश ।
तरी जें निर्मितें भ्रमास । तें कां याहुनी वेगळें ॥ ७ ॥
आत्मबोध मिळविण्याची । इच्छा माझ्या हृदयींची ।
चांगली पुरली म्हणायची । तुझ्या संदिग्ध बोलण्यानें ॥ ८ ॥
वैद्य पथ्यही न सांगे नीट । औषधास्तव दे कालकूट ।
तरी कृष्णा कथीं स्पष्ट । रोगी काय जगेल तो ॥ ९ ॥
आंधळा आडमार्गी लावावा । माकडास गांजा पाजावा ।
तैसा उपदेश हा बरवा । ओढवला माझ्यावरी ॥ १० ॥
आधींच मज ना कांहीं कळें । त्यांत मोहानें व्याकुळ केलें ।
म्हणून तुजसी विचारिलें । सारासार काय येथें ॥ ११ ॥
तो तूं असें नवल करिशी । उपदेशानें भ्रमविशी ।
अरे आपुल्या अनुयायासी । ऐसें कां तूं वागावें ? ॥ १२ ॥
मी देहासह जीवेंभावें । तुझ्या शब्दीं विसंबावें ।
आणि तूंच ऐसें वागावें । मग सारें संपलें कीं । १३ ॥
तूं हें ऐसें बोलसी । हें कां आमुचें हित करिशी ? ।
येथें आतां मी कशासी । आशा धरावी ज्ञानाची ॥ १४ ॥

: ८२ :

ज्ञान मिळणें राहो दूर । उलट घडलें त्यावर ।
माझें जे निश्चित विचार । तेही आतां घोटाळले ॥ १५ ॥
कृष्णा हें तुझें वर्तन । कांहीं न येतें कळून ।
किंवा माझें कसें मन । त्याची परीक्षा ही घेसी ॥ १६ ॥
वा श्रीकृष्णा येथ मजसी । तूं हें ऐसें फसवितोसी ।
वा कांहीं तत्त्व सांगसी । अप्रत्यक्षपणें इथें ॥ १७ ॥
तुझें बोलणें ऐकिलें । त्याचें बहु चिंतन केलें ।
परी न कांहीं उमगलें । निश्चितपणानें येठायीं ॥ १८ ॥
म्हणून माझी विनंति । तूं ऐकावी श्रीपति ।
कांहीं न सांगावे मजप्रति । ऐसें गूढपणानें ॥ १९ ॥
जो कां विचार श्रीहरी । आहे तुझिया अंतरी ।
तो मजसी कथन करी । सरळ सोप्या मराठींत ॥ २० ॥
मंद आहे बुद्धि मम । त्या मजसीही विनाश्रम ।
कळावें ऐसें कथीं वर्म । निश्चयानें एक कांहीं ॥ २१ ॥
पहा रोग जिंकावयातें । औषध द्यावेंच लागतें ।
परी तें असावें वाटतें । रुचिर गोड जैशापरी ॥ २२ ॥
तैसें सकलार्थानें भरित । तत्त्व सांग जें कां उचित ।
परी त्यानें समजूत । माझी पटेल ऐसें करी ॥ २३ ॥
तुझ्यासारखा उपदेशक । सद्गुरु लाभला अलौकिक ।
तरी जिज्ञासेची ही भूक । तृप्त करून कां न घ्यावी ? ॥ २४ ॥
तूं आमुची वत्सल माता । मी तुझा बाळ नेणता ।
तरी कोणाची मी आतां । भीड धरावी कशास्तव ॥ २५ ॥

: ८३ :

जी दुभत्यासार्ठी आणिली । ती सुदैवे कामधेनू निघाली ।
 तरी कृपणता तें स्थळी । करावी कां कामनेची ॥ २६ ॥
 हातां आला चिंतामणी । तरी संकट काय मनीं ! ।
 कां न त्या घ्यावे मागुनी । आपणासी जें जें हवें ? ॥ २७ ॥
 सागर भरला अमृतानें । तेथ तडफडावे तृषेनें ! ।
 मग कां परिश्रमानें । तेथें येऊन पोंचावे ? ॥ २८ ॥
 तैसी जन्मजन्मांतरी । तुझी सेवा केली हरि ।
 त्या पुण्यानें आज करीं । सांपडलासी आम्हां तूं ॥ २९ ॥
 म्हणून हे परमेश्वरा । जें जें वाटतें अंतरा ।
 तें तें मागायासी बरा । योग्य काळ पातला हा ॥ ३० ॥
 माझें पुण्य यशस्वी झालें । हेत मनींचे सिद्धी गेले ।
 आज सार्थकी लागलें । जीवन माझ्या इच्छांचें ॥ ३१ ॥
 कारण मांगल्य-निधाना । देवाधिदेवा श्रीकृष्णा ।
 तूं केलेसी आपणां । स्वाधीन आम्हां भक्तांच्या ॥ ३२ ॥
 मातेचें स्तन्य प्यावयाला । वेळ अवेळ ना शिशूला ।
 तैसें तुजसी मी कृपाळा । वाटलें तें विचारलें ॥ ३३ ॥
 ३१ म्हणून आतां निश्चयानें । येथें योग्य जें आचरणें ।
 आणि परलोक साधे जेणें । पार्थ म्हणे ' तें सांग मला ' ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
 ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानं कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

: ८४ :

यापरी तो बोलतां तेथ । श्रीकृष्ण झाले विस्मित ।
 म्हणती पार्था संक्षेपांत । अभिप्राय कथिला तुला ॥ ३५ ॥
 कर्मयोग जो निष्काम । त्याचें प्रतिपादितां वर्म ।
 त्या प्रसंगानें उत्तम । ज्ञानमार्ग कथिला हा ॥ ३६ ॥
 परी तो हेतू न जाणतां । राग वृथा धरिसी चित्ता ।
 अरे दोन्हीही तत्त्वतां । मीच मार्ग कथिले हे ॥ ३७ ॥
 वीरवरा घे जाणून । जगामधें ज्या निष्ठा दोन ।
 त्या अनादि कालापासून । प्रगट झाल्या माझ्यामुळें ॥ ३८ ॥
 ज्ञानयोग एका म्हणती । ज्ञानी त्यासी स्वीकारिती ।
 ज्याच्या परिचयें निश्चिती । होती तद्रूप ब्रह्मासवें ॥ ३९ ॥
 कर्मयोग दुसरा जाण । ज्यासीं कौशल्यें स्वीकारून ।
 मोक्षपदा साधक जन । पोंचती कालांतरानें ॥ ४० ॥
 परी हे दोन्ही मार्ग अंती । पहा अर्जुना एक होती ।
 बाहेरून जरी वाटती । आरंभी ते वेगळाले ॥ ४१ ॥
 एक घे आयतें भोजन । दुसरा खाईं शिजवून ।
 परी दोघांचें समाधान । सारखेंच होतें अंती ॥ ४२ ॥
 ही पूर्वेची ही पश्चिमेची । अशी भिन्नता नद्यांची ।
 गांठ पडतां समुद्राची । परी मावळे तो भेद ॥ ४३ ॥
 तैसें दोन्हीहि मार्गांचें । साध्य एक असें साचें ।
 आचरण परी तयांचें । पात्रता पाहून करावें ॥ ४४ ॥
 ४१ पहा एका झेपेसरशीं । पक्षी पोंचे फळापाशीं ।
 त्या वेगानें माणसासी । जातां काय येई तिथें ॥ ४५ ॥

: ८५ :

तो हळूहळू क्रमाने । खोड फांद्यांच्या आधारानें ।
 सरळ निश्चित मार्गानें । पोंचतो फळापर्यंत ॥ ४६ ॥
 तैसा अर्जुना ज्ञानयोग । हा जाणावा विहंग मार्ग ।
 ज्ञानी याच्या बळें सवेग । तत्क्षणीं मोक्षा प्राप्त होती ॥ ४७ ॥
 कर्मयोगी जे दुसरे । ते कर्ममार्गाच्या आधारें ।
 स्वधर्म पाळुनी विचारें । क्रमें पोंचती पूर्णतेसी ॥ ४८ ॥

न कर्मणामनारम्भात्त्रैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

उचित कर्मावांचून । राहती जे कर्महीन ।
 त्या न लाभें पूर्णपण । कधींहि सिद्धाप्रमाणें ॥ ४९ ॥
 अधिकारपरत्वे वांट्याला । जो कर्माचा भाग आला ।
 त्या उचित स्वधर्माला । बुद्धिपूर्वक टाळितो जो ॥ ५० ॥
 आणि ' यामुळें माझ्या हातां । येईल म्हणें निष्कर्मता ' ।
 अर्जुना हे बोल वृथा । असती मूर्खपणाचे ॥ ५१ ॥
 पैलतीरा कसें जावें । ऐसें संकट प्राप्त व्हावें ।
 तरी त्यानें कां त्यजावें । सांग अर्जुना नावेसी ॥ ५२ ॥
 जरी भुकेचें समाधान । व्हावें ऐसें इच्छीं मन ।
 तरी कैसें कंटाळून । चालेल अत्रा शिजविण्या ॥ ५३ ॥
 वा कोणी शिजवून । दिलेलें, आयतें भोजन ।
 तें भक्षिल्यावांचून । तृप्ति काय लाभे कधीं ॥ ५४ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

: ८६ :

पूर्णपणानें निरिच्छता । जोंवरी न आली चित्ता ।
 तोंवरी न येती टाकितां । व्यापार अर्जुना कर्माचे ॥ ५५ ॥
 मग होऊन आत्मज्ञान । जेव्हां लाभतें समाधान ।
 तेव्हां आपोआप गळून । कर्म थांबें सहजतेनें ॥ ५६ ॥
 म्हणून अर्जुना निष्कर्मता । मिळविण्याची ज्या आस्था ।
 त्यानें न टाकावें सर्वथा । आपुल्या उचित कर्मासी ॥ ५७ ॥
 ५९ आपुलिया इच्छेप्रमाणें । कर्माचा स्वीकार केल्यानें ।
 मना आवडे त्यारीतीनें । तें तरी साध्य होते कां ? ॥ ५८ ॥
 वा नको वाटतें म्हणून । टाकूं गेल्या कर्म जाण ।
 त्यामुळें तरी घडून । कर्मत्याग येतसे कां ? ॥ ५९ ॥
 तेणें ' करीन वाटे तसें ' । हें बोलणें व्यर्थ असें ।
 विचारें पाहतां मानसे । कर्म सुटें ना कर्मत्यागें ॥ ६० ॥
 प्रकृतीच्या आश्रयाधीन । जोवर शरीराचे जीवन ।
 तोंवर ' करीन ' वा ' न करीन ' । हें बोलणें अज्ञानाचें ॥ ६१ ॥
 शरीर जें जें कांहीं करतें । त्रिगुणामुळें होतें तें तें ।
 देहाच्या साऱ्या व्यापारातें । गुण हे स्वाधीन ठेविती ॥ ६२ ॥
 विहित कर्म हट्टें जरी । करावयाचें सोडिलें तरी ।
 इंद्रियांना टाकून दुरी । त्यांचे स्वभाव जाती कां ? ॥ ६३ ॥
 कानाचे ऐकणे थांबतें ! । कां डोळ्याचें तेज जातें ! ।
 नाक काय बंद होतें । आणि वास न कळे त्या ॥ ६४ ॥
 वायू जे प्राण अपानादि । त्यांच्या गतीस कां ये बंदी ।
 वा सोडून देतें बुद्धि । काय कल्पना करण्याचें ॥ ६५ ॥

: ८७ :

भूक लागण्याचे थांबते ? । तहान ना उत्पन्न होते ? ।
 वा काय नाहीसैं होते । झोपणें वा जागें होणें ॥ ६६ ॥
 पाय चालणें विसरती ? । अशा गोष्टी काय घडती ? ।
 फार काय, कां खुंटती । होणारे ते जन्ममृत्यू ॥ ६७ ॥
 हें न थांबेच कांहीं जरी । मग सोडिलें काय तरी ।
 कर्मत्याग खरोखरी । प्रकृतियुक्ता शक्य नाही ॥ ६८ ॥
 प्रकृतीच्या गुणाकडोनि । परस्वाधीनपणानी ।
 कर्म येतातीं घडोनि । शरीरधारी व्यक्तीची ॥ ६९ ॥
 म्हणून करण्या टाकण्यासी । स्वतंत्रता ना कोणासी ।
 मी कर्ता या अहंतेसी । मग कां व्यर्थ बाळगावें ॥ ७० ॥
 रथाच्या वरती चढोनी । जरी निश्चल बसला कोणी ।
 तरी रथाच्या गतीनीं । हिंडणें भाग होतें तया ॥ ७१ ॥
 वाळून खालीं पडलेलें । पान जरी ना स्वयें हालें ।
 तरी उडून वाऱ्यामुळें । भ्रमण करी तें आकाशीं ॥ ७२ ॥
 नैष्कर्म्य पद मिळवुनी । कर्मातीत झाला कोणी ।
 तरी त्याच्याहि इंद्रियांनीं । कर्म घडतीं प्रकृतीनें ॥ ७३ ॥
 म्हणून प्रकृतीच्या बळानें । जोंवरी हा देह धरणें ।
 कर्मत्याग हा साधणें । तोंवर आहे अशक्य ॥ ७४ ॥
 कुणी ऐशा या स्थितीत । म्हणें टाकीन कर्माप्रत ।
 पार्था तरी त्याचा निश्चित । उरे केवळ दुराग्रह ॥ ७५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

: ८८ :

निष्कर्मता होण्या प्राप्त । जो कर्म टाकून विहित ।
 निग्रहानें आवरीत । कर्मेन्द्रियांच्या प्रवृत्ति ॥ ७६ ॥
 कर्मत्याग न साधे तया । कारण ' काम ' दडोनिया ।
 मनीं वसे, तेणें वायां । कर्तव्यबुद्धि असे त्यांसी ॥ ७७ ॥
 म्हणून बाह्यात्कारी जरी । कर्मत्याग घडल्यापरी ।
 डौल मिरवी परोपरी । तरी दीन दरिद्री तो ॥ ७८ ॥
 असे जे दंभ करितात । ते खरेंच विषयासक्त ।
 अर्जुना जाणावें निश्चित । यांत शंका नसे मुळीं ॥ ७९ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

निष्काम पुरुषाचें चिन्ह । ओघानें तुज सांगेन ।
 आतां होऊन सावधान । तूं एकावे अर्जुना तें ॥ ८० ॥
 ज्याचें निश्चल झालें मन । परमात्मरूपीं जो लीन ।
 तरी मात्र बाहेरून । वागतो लोकाप्रमाणें ॥ ८१ ॥
 तो प्रेरणा न दे इंद्रिया । वा न विषयाच्या धरी भया ।
 कर्म विहित जें जें तया । अवेर ना करी त्याचा ॥ ८२ ॥
 कर्मेन्द्रियें कर्म करितीं । हा न आवरी तयाप्रती ।
 परी कर्मातून ज्या उठती । उर्मी त्या न बाधती तया ॥ ८३ ॥
 कामना नसे त्याचें चित्ती । मोहाचे मळ ना लागती ।
 न भिजतां जेवीं राहती । पाण्यामधें कमळ-पत्रें ॥ ८४ ॥
 तो नांदतो उपाधीत । चार चौघापरी दिसत ।
 जैसैं पडलेले जलांत । प्रतिबिंब दिसैं सूर्याचें ॥ ८५ ॥

: ८९ :

तैसें पाहतां वरिवरि । तो दिसे सामान्यापरी ।
 परी विचार करितां अंतरी । कल्पना त्याची करवे ना ॥ ८६ ॥
 ऐशा लक्षणांनीं युक्त । जो दिसतो तोच मुक्त ।
 आणि तोच ओळखी निश्चित । 'सुटला आशा पाशांतुनी' ॥ ८७ ॥
 हाच निष्काम कर्मयोगी । वाखाणला जातो जर्गी ।
 म्हणून अर्जुना तूंही वेगीं । त्यापरी हो ! म्हणतो तुला ॥ ८८ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

करी मनार्चे नियमन । निश्चल व्हावें अंतःकरण ।
 मग कर्मेन्द्रियांचें वर्तन । सुखें होईल तें होवो ॥ ८९ ॥
 मिळवावी निष्कर्मता । असें वाटें जरी चित्ता ।
 तरी टाकून कर्मा विहिता । मिळविणें ती शक्य नाही ॥ ९० ॥
 मग सोडून शास्त्राधार । कां हा करावा व्यवहार ।
 अर्जुना हा सर्व विचार । तुवा करावा नीटपणें ॥ ९१ ॥
 म्हणून प्रसंगाच्या अनुसार । विहित कर्माचा आचार ।
 करावा परी फळावर । तेथें दृष्टि न ठेवावी ॥ ९२ ॥
 नवलाची आणखी येथ । गोष्ट तुजसी नसे ज्ञात ।
 कीं जें वाटें गोंवी पाशांत । सहज सोडवी तें कर्म ॥ ९३ ॥
 वर्णाश्रमधर्माप्रमाणें । जें जें योग्य असें करणें ।
 त्या स्वधर्माच्या आचरणें । निश्चयानें मोक्ष लाभे ॥ ९४ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

: ९० :

८९ स्वधर्म हा जो अर्जुना । नित्ययज्ञ तो असे जाणा ।
 त्याच्या आचरणीं कधी ना । पाप लागें कोणासहि ॥ ९५ ॥
 हे स्वधर्म जेव्हां सुटती । तेव्हां दुष्कर्म आवडतीं ।
 आणि त्यामुळें प्राप्त होतीं । बंधनें कीं संसाराची ॥ ९६ ॥
 म्हणून स्वधर्म आचरणें । हेंच सतत यज्ञ करणें ।
 जो हें करी, त्या बंधनें । कोणतीं ना प्राप्त होतीं ॥ ९७ ॥
 लोक या नित्ययज्ञातें । चुकले म्हणोनि तयातें ।
 कर्मबंधानें लागते । -व्हावें देही परतंत्र ॥ ९८ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

आतां कथा या विषयीं । अर्जुना तुज कथितो पाही ।
 जेव्हां विधात्याने सर्व ही । सृष्टि केली उत्पन्न ॥ ९९ ॥
 तयीं या नित्ययज्ञासहित । भूतें निर्माण केलीं समस्त ।
 परीं 'सूक्ष्मपणानें' हा तेथ । यज्ञ त्यांना समजला ना ॥ १०० ॥
 त्यावेळीं त्या प्रजेनें । विनविलें ब्रह्म्याकारणें ।
 देवा कशाच्या आश्रयानें । राहावें आम्ही या लोकीं ॥ १०१ ॥
 तेव्हां तया जीवाला । तो ब्रह्मदेव म्हणाला ।
 कीं तुम्हांसाठीं लाविला । आहे येथें स्वधर्म हा ॥ १०२ ॥
 आपुल्या वर्णविशेषानें । तुम्ही याची सेवा करणें ।
 म्हणजे साऱ्या सहजपणें । इच्छा तुमच्या पुरतील ॥ १०३ ॥
 तुम्ही व्रत नियम ना करावें । शरीरासी ना दुःख द्यावें ।
 तीर्थयात्रेसी दूर जावें । आवश्यक हेंहि नसें ॥ १०४ ॥

: ९१ :

नको साधावया योग । नको कामनायुक्त याग ।
 तुम्हीं करावा सुखें त्याग । मंत्र-यंत्र-विधानांचा ॥१०५॥
 ११ देवदेवतांचें पूजन । हें कांही न करावें जाण ।
 प्रयासाविणें अनुष्ठान । करा या स्वधर्म यज्ञाचें ॥१०६॥
 आशा सोडून फळाची । सेवा करा स्वधर्माची ।
 जेवीं आपुल्या पतीची । करीतसे पतिव्रता ॥१०७॥
 स्वधर्मरूपी यज्ञ हा । मी तुम्हांसी दिधला पहा ।
 म्हणून निष्ठेनें महा । तुम्हीं सेवावें सर्वदा या ॥१०८॥
 भजतां या स्वधर्मासी । कामधेनु होईल विशेषी ।
 आणि जीव हो ! हा तुम्हांसी । सोडील ना केव्हांही ॥१०९॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

याच्या आचरणें करून । संतुष्ट होईल देवगण ।
 आणि ते तुमचे परिपूर्ण । करिती सर्व मनोरथ ॥११०॥
 या स्वधर्मरूप पूजेनें । पूजितां देवाकारणें ।
 ते तुमचा निश्चयानें । चालविती योगक्षेम ॥१११॥
 तुम्ही देवांना भजावें । देवांनीं तुम्हां सुख द्यावें ।
 असें तेथ वाढेल बरवें । प्रेम परस्परांमध्ये ॥११२॥
 मग तुम्हीं जें करूं म्हणाल । तें सहज सिद्धीसी जाईल ।
 आणि साऱ्या पूर्ण होतील । इच्छा तुमच्या मनांतल्या ॥११३॥
 तुम्ही जें जें बोलाल । तें तें खरें होईल ।
 ऋद्धिसिद्धि विचारतील । 'स्वामी ! काय आज्ञा आहे' ॥११४॥

जैसे ऋतुपति जो वसंत । सर्वदा तयाच्या दारांत ।
 वनश्री उभी सेवा करीत । फलपुष्पांच्या शोभेसह ॥११५॥

इष्टान्भोगान्नि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

१०१ तैसें सर्व सुखासहित । सुदैव जें मूर्तिमंत ।
 तें तुम्हांसी शोधित । तुमच्यामार्गे येईल कीं ॥११६॥
 एकनिष्ठेनें स्वधर्माचें । असे आचरण घडतां साचें ।
 सर्व भोग लाभून, तुमचें । मन होईल निर्वासन ॥११७॥
 परी लाभतां संपत्ति । लुब्ध होऊन विषयांप्रति ।
 इंद्रियें जिकडे ओढती । तिकडे लोलुप जातो जो ॥११८॥
 यज्ञप्रिय देवतांनीं । संपत्ति दिली हें विसरूनी ।
 आपुल्या स्वधर्माचरणानीं । सर्वेश्वरा न भजतो जो ॥११९॥
 अग्निमुखीं न दे हवन । न करी देवता पूजन ।
 ब्राह्मणासी भोजन । योग्यवेळीं न देई जो ॥१२०॥
 सद्गुरुची न भक्ति करी । न राहू दे अतिथि दारीं ।
 वा संतोषवी ना तिळभरी । आपुल्या जो समाजासी ॥१२१॥
 ऐसें संपत्तीच्या मदानें, । टाकून स्वधर्मा पाळणें ।
 भोगामध्ये पूर्णपणें । आसक्त होऊन राही जो ॥१२२॥
 त्याच्यावरतीं आपत्ति । थोर येतसे निश्चिती ।
 भोग त्या न भोगतां येती । ऐश्वर्य सारें नष्ट होतें ॥१२३॥
 आयुष्य संपतां देहांत । चैतन्य जेवीं ना नांदत ।
 वा दैवहीनाच्या घरांत । राहते ना लक्ष्मी जशी ॥१२४॥

तैसा स्वधर्म नष्ट होय । तरी सुखाचा मोडे आश्रय ।
जसा प्रकाश निघून जाय । दिवा जातां मालवला ॥१२५॥
१११ तैसें आचार सुटल्यावरी । आत्मस्वातंत्र्य जातें दुरी ।
तुम्हीं जीव हो हें अंतरी । वागवा म्हणें ब्रह्मदेव ॥१२६॥
जो स्वधर्मासी टाकील । यम त्यासी शिक्षा करील ।
चोर समजून नेईल । सर्वस्व त्याच्याजवळचें ॥१२७॥
मग पातकें सर्वहि तीं । त्याच्याजवळ गोळा होतीं ।
जैसीं पिशाचें वेढितीं । मध्यरात्रीं स्मशानातें ॥१२८॥
तैसी त्रिभुवनांतलीं दुःखें । नानाप्रकारचीं पातकें ।
वा दैन्य दारिद्र्य तितुकें । तयापाशीं वास करीं ॥१२९॥
उन्मत्तपणानें ऐशी स्थिति । त्याची होते निश्चिती ।
मग रडल्यानेंही कल्पांतीं । सुटका त्याची होत नाहीं ॥१३०॥
म्हणून स्वधर्मा ना सोडावें । इंद्रिया स्वैर न होऊं द्यावें ।
ऐसा तेव्हां ब्रह्मदेवें । उपदेश केला जीवांना ॥१३१॥
मासा त्यजी जलासी । तत्क्षणीं पावें मृत्यूसी ।
म्हणून तुम्हीं स्वधर्मासी । कधींही ना विसरावें ॥१३२॥
यास्तव जें कर्म सत्य । आपणासी असें विहित ।
सदा तत्पर रहा तेथ । हेंच सांगणे पुनः पुनः ॥१३३॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

जो स्वधर्माच्या आचरणांत । आपुली संपत्ति वेंचीत ।
न धरितां निजचित्तांत । आशा फळाच्या प्राप्तीची ॥१३४॥

वडिलांचा ठेवी मान । आप्तेष्टांना देई धन ।
देव अग्नि वा ब्राह्मण । यांची पूजा भावें करी ॥१३५॥
पितरांना उद्देशून । श्राद्ध पक्ष करी पूर्ण ।
ऐसें विहित कर्माचरण । हाच यज्ञ नित्य करी ॥१३६॥
११२ ईश्वर जो यज्ञपुरुष । यज्ञ समर्पी हा तयास ।
आणि मग जें अवशेष । उरतें सहज यज्ञांतलें ॥१३७॥
तें संतोषें घेऊन । करी कुटुंबाचें पोषण ।
तरी ते भोगहि नाशन । करिती सर्व पातकांचें ॥१३८॥
यज्ञ करोनि जें उरतें । तो सेवन करी त्यातें ।
म्हणून सहज तयातें । टाकून पळतीं पातकें ॥१३९॥
जैसें मिळतां अमृत । मोठे रोगही पळतात ।
किंवा ब्रह्मनिष्ठांप्रत । शोक मोह ना गांजिती ॥१४०॥
तैसें यज्ञ करून उरलें । तेंच ज्यानें सेवन केलें ।
तयासी ना बाधती भले । दोष कोणते केव्हांही ॥१४१॥
म्हणून स्वधर्मानें मिळवावें । तें स्वधर्मासाठींच वेचावें ।
मग जें उरेल तें भोगावें । संतोष चित्तीं ठेवुनी ॥१४२॥
अर्जुना याच्यावांचून । दुसरें न करावें वर्तन ।
अशी अर्जुनासी श्रीकृष्ण । कथा सांगे पूर्वीची ॥१४३॥
मी देह ऐसे मानुनी । विषय भोग्य धरिती मनीं ।
दुसरें याच्यावांचुनी । मनांतहि ये न ज्यांच्या ॥१४४॥
म्हणून तें भ्रांत जन । अहंकार बाळगून ।
यज्ञसाधन जें धन । तें निजभोगासी लाविती ॥१४५॥

जें जें इंद्रियांना रुचते । तेवढें सारें जमविती ते ।
 ऐसें सेविती पातकातें । भोगमिषानें ते पापी ॥१४६॥
 वस्तुतः सारी संपत्ति । यज्ञसाधन मानावी ती ।
 करून स्वधर्मयज्ञाप्रति । ईश्वरासी समर्पावी ॥१४७॥
 १३१ तें सोडून हे मूर्ख जन । स्वतःसाठी वेंचितीं धन ।
 नानाप्रकारें संपादन । करिती भोग्य वस्तूचें ॥१४८॥
 यज्ञ सिद्धीस गेल्यावर । संतुष्ट होतां ईश्वर ।
 जें उरें तें खरोखर । अन्न, सामान्य मानूं नयें ॥१४९॥
 तें न म्हणावें साधारण । तें ब्रह्मस्वरूप असें जाण ।
 कारण विश्वाचें जीवन । त्यानें होतें सुखावह ॥१५०॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

जीव वाढती अन्नामुळें । अन्न मिळें पर्जन्यबळें ।
 आणि यज्ञामधून झालें । जनन पहा पर्जन्याचें ॥१५१॥
 यज्ञ प्रगटे कर्मातुनी । कर्म जन्में वेदवचनीं ।
 आणि वेदाच्या मूलस्थानीं । अक्षर ब्रह्म आहे तें ॥१५२॥
 ऐसें ब्रह्म परात्पर । सर्वव्यापक निरंतर ।
 म्हणोनि विश्व हें चराचर । संबद्ध आहे ब्रह्माशीं ॥१५३॥
 परी कर्मरूप यज्ञामधें । वेद मूलासह नांदे ।
 ऐसी स्वधर्माच्या संबधें । पार्था लाभे अखंडता ॥१५४॥

: ९६ :

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

यज्ञासाठीं थोडक्यांत । परंपरा ही कथिली सत्य ।
 जी आली आहे चालत । मूळापासून ये ठायीं ॥१५५॥
 स्वधर्मरूप हा यज्ञ । जो कथिला उचित म्हणून ।
 त्याचें उन्मत्त होऊन । जो न करी अनुष्ठान ॥१५६॥
 जो लाडवी इंद्रियांतें । करून दुर्वर्तनातें ।
 तो पापराशी या भूमीते । भार आहे सर्वथैव ॥१५७॥
 १४१ त्याचा जन्म वा वर्तन । पार्था व्यर्थ असें जाण ।
 जैसें वळवाचे जमून । मेघ आले आकाशीं ॥१५८॥
 वा शेळीच्या गळ्याचे । स्तन जैसें कां फुकाचे ।
 तैसें जगणें तें त्याचें । व्यर्थ होतें स्वधर्माविण ॥१५९॥
 म्हणून ऐकावें अर्जुना । स्वधर्म कोणी टाकावा ना ।
 अरे याच्या अनुष्ठाना । करावें जीवाभावानें ॥१६०॥
 शरीरा धारण करितां तें । कर्तव्य ओघानेंच येतें ।
 मग त्या विहित कर्मातें । टाकून द्यावें कशासाठीं ॥१६१॥
 शरीर धरून वागती । आणि कर्मा कंटाळती ।
 अर्जुना ते निश्चिती । मूर्ख अडाणी समजावे ॥१६२॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।

आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

: ९७ :

जो आत्मस्वरूपीं रममाण । अखंडित असे पूर्ण ।
 तयासी देहधर्मकरून । लेप न लागे कर्माचा ॥१६३॥
 कारण, आत्मज्ञानानें । संतोषला तो पूर्णपणें ।
 कृतकृत्य जाहला, तेणें । सहज सुटतो कर्मबंध ॥१६४॥
 ज्याप्रमाणें भरतां पोट । सरे पाकाची खटपट ।
 तैसें आत्म्यांत होतां संतुष्ट । कर्म कांहीं नुरतें तया ॥१६५॥
 अर्जुना हा असा पाही । बोध चित्तीं ठसला नाही ।
 तोपर्यंत या सर्वहि । साधनां करावें लागतें ॥१६६॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

म्हणून आसक्ति टाकून । आपुलें चित्त आवरून ।
 तूं स्वधर्माचें आचरण । योग्यरीतीनें करावें ॥१६७॥
 १५१ जे निष्काम भावनेनें । वागती पार्था स्वधर्मानें ।
 या जगांत त्याकारणें । श्रेष्ठ मोक्ष प्राप्त होतो ॥१६८॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

जनकादिकां पूर्वकाळीं । कर्मासि न टाकितां मुळीं ।
 सहजपणानें या स्थलीं । मोक्षसुखें प्राप्त झालीं ॥१६९॥
 यासाठीं या कर्माविषयीं । आस्था पूर्ण असावी हृदयीं ।
 या वृत्तीचा उपयोग होई । आणिक एका प्रकारानें ॥१७०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

: ९८ :

‘ श्रेष्ठें ’ करितां धर्माचरणा । तेंच वळण लागतें जनां ।
 तें सहज वांचवी तयांना । कर्मलोपाच्या हानीतुनीं ॥१७१॥
 श्रेष्ठ जरी कृतकृत्य झाले । नैष्कर्म्य त्यांना लाभलें ।
 तरी लोकांसाठीं उरलें । कर्तव्य कांहीं तयांना ॥१७२॥
 आंधळ्यासी धरून हातीं । डोळस जैसा चाले पुढती ।
 अज्ञान्यासी त्याच रीतीं । धर्म सांगावा आचरून ॥१७३॥
 अरे, ऐसें न केल्यासी । रीत न लागे अज्ञान्यासी ।
 तयांनी तरी या मार्गासी । जाणावें कैशाप्रकारें ॥१७४॥
 थोर थोर जें जें करिती । अन्य त्यासी धर्म म्हणती ।
 आणि तयासीच पाळिती । सामान्यजन वागतांना ॥१७५॥
 स्वभावता ही ऐशी स्थिति । तेणें न सोडावें कर्माप्रति ।
 उलट कांहीं विशेष रीतीं । संतांनीं तें आचरावें ॥१७६॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

आतां इतरांच्या विषयीं । कशास सांगू तुज याठायीं ।
 अर्जुना या लोकांत पाही । याचरीतीनें वागतो मी ॥१७७॥
 १६१ मजसी कां सांकडें कांहीं । इच्छा मनीं कसली राही ।
 म्हणून कां मी ये ठायीं । स्वधर्मातें आचरितो ? ॥१७८॥
 परी तुज असें ज्ञात । कीं मजसम पूर्णतेंत ।
 दुसरा कोणी नसे सत्य । ऐसें सामर्थ्य माझें असें ॥१७९॥
 मृत गुरुपुत्र मी आणिला । तो पराक्रम तूं पाहिला ।
 तरीही येथें कर्माळा । पाळितो मी निमूटपणें ॥१८०॥

: ९९ :

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्तमानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥१३॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥१४॥

तींही कर्म करी अशीं । करावी सकामानें जशी ।
या दक्षतेच्या मुळाशीं । एक उद्देश आहे मम ॥१८१॥
कीं सर्वहि प्राणिजात । माझ्या तंत्रानें चालतात ।
त्यांनीं पडोनि भ्रमांत । स्वैर कधीं होऊं नये ॥१८२॥
सर्व इच्छांतुनी मुक्त । होऊन मी आत्मस्थितींत ।
राहिलों तरी हे समस्त । लोक तरून जाती कसे ? ॥१८३॥
हे आमच्याकडे पाहून । सुधारिती निज वर्तन ।
आम्हीच होतां उदासीन । नासेल कीं लोकस्थिति ॥१८४॥
सर्वज्ञ समर्थ म्हणोनि । जो जो येथें असेल कोणी ।
त्यांनीं विशेषें करोनि । कर्म केव्हांही टाकू नये ॥१८५॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥१५॥

फळाशा ठेवून अंतरीं । सकाम जैसा कर्म करी ।
तैसाच भर कर्मावरी । निरिच्छाचाही असावा ॥१८६॥
कारण सातत्यें करून । लोकामर्थें जें सद्वर्तन ।
त्याचें सर्वप्रकारें रक्षण । पार्था झालेंच पाहिजें ॥१८७॥
शास्त्रमार्गानें चालावें । लोकां ध्येयाकडे न्यावें ।
कधीं न ज्ञात्यानें वागावें । लोकविलक्षण रीतीनें ॥१८८॥

: १०० :

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्व कर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥१६॥

जें प्रयासानें स्तन्य पिई । तें पक्कानें काय खाई ? ।
म्हणून तीं जैशी कधींहि । पार्था शिशूस न घालावीं ॥१८९॥
साधें कर्महि जयासी । नीट न ये करावयासी ।
चुकून न सांगावें तयासी । तत्त्व निष्कर्म स्थितीचें ॥१९०॥
सदाचरणीं त्या लावावें । तेंच केवळ प्रशंसावें ।
निष्कामानेंही दाखवावें । तेंच आपुल्या कृतीनें ॥१९१॥
लोकसंग्रहासाठीं जरी । ज्ञाता कर्माची संगत धरी ।
तरीही तयासि अंतरीं । बंधन लागें न कर्माचें ॥१९२॥
जेवीं बहुरूपी राजाराणी । -होतो, नसतां भाव मनीं ।
परी सोंगाची संपादणी । करितो मात्र यथास्थित ॥१९३॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

दुसऱ्याचें ओझें जरीं । घेतलें निज शिरावरी ।
त्या भाराखालतीं तरीं । दडपलें जावें लागतें ॥१९४॥
शुभाशुभ कर्म तैसें । प्रकृतीमुळें घडत असें ।
परी भ्रमानें मानीतसे । मूर्ख, ' त्याचा कर्ता मी ' ॥१९५॥
धरून देहाच्या अहंतेसी । संकुचित मानी आपणासी ।
अर्जुना ऐशा मूर्खासी । परमार्थ हा न सांगावा ॥१९६॥
आतां हिताचें तुज कांहीं । सांगतो मी येथ पाही ।
तें तूं नीट चित्तीं घेई । दक्षतेनें ऐकुनिया ॥१९७॥

: १०१ :

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

१८१ कीं प्रकृतीच्या गुणामुळें । कर्म उत्पन्न होतें सगळें ।
तत्त्वनिष्ठ जे चांगले । ते न घेती कर्तेपण ॥१९८॥
ते देहाभिमाना सोडिती । गुणकर्माच्या पार जाती ।
आणि देहामधें राहती । होऊन मात्र साक्षीभूत ॥१९९॥
म्हणून देहामधें असून । त्यास न लागे कर्मबंधन ।
जैसें जगताचें वर्तन । लेप न लावी सूर्यासी ॥२००॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।

तानकृत्स्नविदो मन्दाकृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

कर्माचा लेप लागे त्यासी । जो गुंतला प्रकृतीपाशीं ।
आणि गुणांनीं निजमानसीं । भ्रांत होऊन वागतो जो ॥२०१॥
घेऊन गुणांचा आधार । इंद्रियें करितीं व्यापार ।
तें जो ओढून अंगावर । कर्म घेई इंद्रियांचें ॥२०२॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

तूं न वागे ऐशापरी । अहंकार कधीं न धरी ।
मग विहितकर्में सारीं । करून मज तीं अर्पावीं ॥२०३॥
परी वागतां या रीतीं । तूं आपली चित्तवृत्ति ।
आत्मस्वरूपांत निश्चिती । निश्चलपणानें ठेवावी ॥२०४॥
कर्म हें जें करणें आतां । तयाचा मी आहे 'कर्ता' ।
अर्जुना यापरी अहंता । येऊं द्यावी न चितीं तुवां ॥२०५॥

: १०२ :

तूं न देहासक्त व्हावें । काम मनींचे त्यजावे ।

मग सर्व भोग भोगावे । यथाकालीं लाभलेले ॥२०६॥

ऊठ घेई धनुष्य हातीं । चल बैस रथावरती ।

स्वीकारावी वीरवृत्ति । आतां पार्था समाधानें ॥२०७॥

जगीं कीर्ति वाढवावी । स्वधर्मासी प्रतिष्ठा द्यावी ।

पृथ्वी सारी सोडवावी । भारापासून दुष्टांच्या ॥२०८॥

१११ संशय न धरावा मनांत । युद्धामधें ठेव चित्त ।

आतां दुसरें कांही येथ । अर्जुना तूं बोलूं नको ॥२०९॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

माझा यथार्थ हा उपदेश । आदरणीय वाटे जयास ।

आणि ठेवून दृढ विश्वास । तो जे वर्तनीं आणिती ॥२१०॥

ते जरी कर्में करितीं । तरी निष्कर्मता पावती ।

म्हणून सर्वांचे निश्चिती । कर्तव्य आहे हेंच एक ॥२११॥

ये त्वेतभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।

सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

अन्यथा प्रकृतीच्या स्वाधीन । होऊन, इंद्रियां लाडावून ।

माझ्या मतां तिरस्कारून । टाकिती जे तयासी ॥२१२॥

वा जे माझीं बोलणीं । सामान्य मानिती मनीं ।

आणि तुच्छतेच्या भावांनी । पाहति माझ्या मतांकडे ॥२१३॥

स्वतःस मानून शाहणा । फार करी वाचाळपणा ।

म्हणें यांत कांही सार ना । हा तो केवळ अर्थवाद ॥२१४॥

: १०३ :

अर्जुना असें जे मानिती । माझ्या मता अव्हेरिती ।
 ते जाणावें निश्चिती । बुडाले अज्ञान पंकांत ॥२१५॥
 मोहरूपीं मद्यानें । भ्रम पावलीं त्यांचीं मनें ।
 किंवा विषयाच्या विषानें । घेरलें, मानी, तयांना ॥२१६॥
 पहा प्रेताच्या हातांत । रत्न दिल्या वायां जात ।
 जन्मांधा ना उपयोग होत । जरी चांगलें उजाडलें ॥२१७॥
 वा चंद्रोदयामुळें । लाभ न मानिती कावळें ।
 तैसे विवेकाचें हें सगळें, । भाषण मूर्खा आवडेना ॥२१८॥
 अर्जुना पहा, जे या रीतीं । परमार्था विन्मुख असती ।
 माझ्या मताचें त्यांपुढती । वर्णन कधीं करावें ना ॥२१९॥
 तें न मानिती या बोधाला । उलट निंदिती तयाला ।
 जैसा कधीं पतंगाला । प्रकाश सहन होतो ना ॥२२०॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

२०९ रममाण होतां विषयांत । निश्चित ओढवे आत्मघात ।
 पतंग जैसा जळून जात । मिठी मारतां ज्योतीसी ॥२२१॥
 म्हणून आपुल्या इंद्रियांना । लाडवावें कधींही ना ।
 तें कौतुक म्हणावें ना । कधीं शाहण्या माणसानें ॥२२२॥
 सापाशीं कां खेळतां येते । वाघाशीं कां मैत्री होते ।
 प्यालेलें कां पचून जातें । हालाहल तें सांग पार्था ? ॥२२३॥
 आग लागे जरी खेळतां । तरी न आटोपे भडकतां ।
 तसें इंद्रियां लाडावितां । चांगलें ना घडें कधीं ॥२२४॥

: १०४ :

पहा विचार करून । देह प्रकृतीच्या स्वाधीन ।
 मग तयासी कां आपण । झटावें भोग देण्यासी ॥२२५॥
 श्रम करून रात्रंदिन । मेळवावें ऐश्वर्य धन ।
 तें कां पार्था प्रतिपालन । करावया या देहाचें ॥२२६॥
 श्रम करोनिया अति । मेळवावी संपत्ति ।
 आणि पोसावे देहाप्रति । काय स्वधर्मा टाकून ? ॥२२७॥
 पांचीं भूतें एक होऊन । करितीं शरीरा निर्माण ।
 शेवटीं मातीसी मिळून । तें पावेल पंचत्वां ॥२२८॥
 मग पोसावया देहास । आपण जे केले प्रयास ।
 त्या श्रमाचा आपणास । लाभ कोणता मिळाला ? ॥२२९॥
 केवळ देह पोशितां कोणी । सर्वस्वानें होते हानी ।
 म्हणून यासी निजमनीं । स्थान कधीं देऊं नको ॥२३०॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।

तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

जे जे आवडती इंद्रियां । ते ते विषय देतां तया ।
 त्या योगानें जरी हृदया । अर्जुना लाभे संतोष ॥२३१॥
 २११ तो संतोष जाणें चित्तीं । सभ्य चोराची संगती ।
 सुखदायी वाटते अति । गांव संपेपर्यंतचि ॥२३२॥
 जशी विषाची मधुरता । गोड न वाटूं द्यावी चित्ता ।
 कारण परिणामीं पाहतां । प्राणघातक होते ती ॥२३३॥
 इंद्रियांतला काम तेवीं । सुखाची लालसा उपजवी ।
 जेवीं माशाप्रति भुलवी । आमिष गळा लाविलेलें ॥ २३४॥

: १०५ :

आमिषामधें आहे गळ । तो प्राण घेऊन जाईल ।
 हें ना कधीं उमगेल । माशाला झांकलेपणें ॥२३५॥
 अभिलाषेनें त्याचपरी । घात होतो परोपरी ।
 पाडी क्रोधाग्निभीतरीं । अर्जुना हाव विषयाची ॥२३६॥
 पारधी जैसा फसवुनी । चहूंकडे वेढा घालुनी ।
 मृगा आणी घातस्थानी । हेतू आपुला साधाया ॥२३७॥
 त्यापरीच येथें स्थिति । तेणें न धरी ही संगती ।
 काम क्रोध येतां चितीं । दोन्हीं ठरती घातक ॥२३८॥
 म्हणून त्या थारा न द्यावा । त्यांचा आठवहि न करावा ।
 स्वधर्माचा न नासूं द्यावा । जिव्हाळा कधीं मनांतला ॥२३९॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
 स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

जरी स्वधर्माचें आचरण । करावया असें कठीण ।
 तरी त्याचेंच अनुष्ठान । करावें हेच चांगलें ॥२४०॥
 अन्य परकीय आचार । जरी वाटला बरा फार ।
 तरी वागतांना आधार । घ्यावा आपुल्याच धर्माचा ॥२४१॥
 २२१ जरीं शूद्राचिया घरीं । पक्कानें तीं नानापरी ।
 तीं भक्षावीं काय तरी । दरिद्रीहि ब्राह्मणानें ॥२४२॥
 अनुचित कैसें आचरावें । अयोग्यासी कां इच्छावें ।
 वा इच्छित म्हणून भोगावें । काय तरी जें योग्य नाहीं ॥२४३॥
 भव्य भक्कम असें घर । दुसऱ्याचें पाहून सुंदर ।
 आपल्या निवासा आधार । झोपडी ती कां मोडावी ॥२४४॥

अथवा निजपत्नी जरी । रूपानें नसली सुंदरी ।
 तरी तिलाचि संसारी । सांभाळून घेणें बरें ॥२४५॥
 तैसें स्वधर्माच्या ठिकाणीं । जरी कष्ट वा अडचणी ।
 तरी त्याच्याच आचरणीं । अक्षरींचे सुख लाभें ॥२४६॥
 अरे दूध आणि साखर । हे प्रसिद्ध लोकीं मधुर ।
 परंतु जंत झाल्यावर । त्यांचे सेवन योग्य नसें ॥२४७॥
 असें असून घेता कोणी । तो दुराग्रह ठरे जाणीं ।
 आणि परिणामीं त्यातुंनी । हित न कधीं व्हावयाचें ॥२४८॥
 म्हणोनि जें अन्या विहित । आणि आपणां अनुचित ।
 तें न आणावें वर्तनांत । इच्छा हिताची असल्यासी ॥२४९॥
 आचरितां या स्वधर्माला । जरी मृत्यू ओढवला ।
 तरी हितकर तो भला । शाश्वत सुखाच्या दृष्टीनें ॥२५०॥

अर्जुन उवाच ।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।

अनिच्छन्नपि वाष्ण्येय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

ऐसें देवदेवोत्तम । तेथ सांगे पुरुषोत्तम ।
 तयीं अर्जुन म्हणें मम । प्रार्थना देवा असे तुम्हां ॥२५१॥
 २३१ हें जें तुम्हीं सांगितलें । तें सर्वहि मी ऐकिलें ।
 त्याने कांहीं वाटतें भलें । तुम्हां आतां विचारावें ॥२५२॥
 ही कैशी होते स्थिति । कीं ज्ञानीहि घसरती ।
 सरळमार्ग सोडून जाती । तेही भलतीकडे कसे ॥२५३॥

सर्व चांगलें ज्यांना कळतें । जाणती साऱ्या उपायातें ।
 तेहि घेती परधर्माते । हा व्यभिचार करिती कां ॥२५४॥
 धान्य आणि कोंड्याला । निवडू न शकतो आंधळा ।
 परी कैसें डोळसाला । निवडाया ना यावें तें ॥२५५॥
 जे जाहले विरक्त । तेच पडती उपाधीत ।
 वनवासांतून येतात । पुन्हां कैसे लोकांमधें ॥२५६॥
 पातकांना चुकवायासी । लपून बसती गुहेसी ।
 तेच त्यांच्या मोहापाशी । गुंतती बलात्कारानें ॥२५७॥
 ज्याचा मनासी कंटाळा । तेंच चिकटतें मनाला ।
 ज्यास बघावें टाळायाला । तें शोधित भेटण्या यें ॥२५८॥
 ऐसा कोणाच्या बळावर । घडून येतो बलात्कार ।
 देवा तुम्हीं तें सत्वर । मज सांगावें पार्थ म्हणें ॥२५९॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

सज्जनाचें हृदयकमळ । हें ज्याचें विश्रांतिस्थल ।
 निरिच्छ झाले तरी सकळ । योगी इच्छिती जयाला ॥२६०॥
 तो पुरुषोत्तम श्रीहरी । भक्तजनांचा कैवारी ।
 म्हणें अर्जुना एके तरी । उत्तर तुझ्या प्रश्नाचें ॥२६१॥
 कामक्रोध खरोखर । करिती हा बलात्कार ।
 कोणाचीही तिळभर । दया त्यांना येत नाही ॥२६२॥

: १०८ :

या कामक्रोधांचें वर्तन । भयप्रद दुष्ट कठीण ।
 म्हणून मृत्यूच्या-समान । लेखावें या दोघांना ॥२६३॥
 २४१ ज्ञानरूपीं ठेव्यावर । हे कीं सर्प भयंकर ।
 हे वाघ असती क्रूर । विषयरूपी दरीतले ॥२६४॥
 भक्तिपंथें जाऊं म्हणति । जे कां साधक सन्मति ।
 त्या भजनमार्गावरती । वाटमारे चांडाळ हे ॥२६५॥
 देहरूपी जो कां गड । तयाचे हे असती दगड ।
 वा तटरूप असती उघड । गांवाभोंवतीं इंद्रियांच्या ॥२६६॥
 भ्रम-मोह-अज्ञानबळें । यांनीं बंड आहे मांडिलें ।
 ज्याच्यामुळें व्याकुळ झाले । सर्व लोक जगांतले ॥२६७॥
 आसुरी प्रकृति धरून । जन्मले मनीं हे रजांतून ।
 अविद्येनें दाईं होऊन । कामक्रोधा पोशिले या ॥२६८॥
 हे रजांतुनी जन्मले । परी तमासी प्रिय झाले ।
 त्यानें ऐश्वर्य यांना दिलें । आपुलें ' प्रमाद मोहांचे ' ॥२६९॥
 यांचा मृत्यूच्या नगरीला । असे फार बोलबाला ।
 कारण हेही जीविताला । वैरी असती मृत्यूपरी ॥२७०॥
 भूक लागतां जियेस । विश्वाचा न पुरे घास ।
 ती ' आशा ' व्यवहारास । यांच्या साऱ्या पाहतसे ॥२७१॥
 कौतुकानें मुठीत । चौदा भुवनें जी कवळीत ।
 ती भ्रांति यांची शोभत । लाडकी बहीण धाकुटी ॥२७२॥
 खेळतांना भातुकली । जी तिन्ही लोकांना गिळी ।
 त्या भ्रांतीनें जगविली । दासी करून तृष्णेसी ॥२७३॥

: १०९ :

असो या कामक्रोधांसी । ' मान ' मोहा-घरीं विशेषीं ।
 अहंकार करी यासी । देवघेवीचें व्यवहार ॥२७४॥
 अहंकार जो सहजपणें । पहा आपुल्या कौशल्यानें ।
 या साऱ्या जगाकारणें । नित्य असे नाचवीत ॥२७५॥
 ज्या दंभानें काढिला । सत्याचा भोकसा भला ।
 आणि तेथें पेंढा भरिला । दुष्कर्माचा ज्या दंभें ॥२७६॥
 त्या दंभाची प्रतिष्ठा जनीं । वाढविली कामक्रोधांनीं ।
 २५१ साध्वी जी ती शांती यांनीं । लुटून केली वस्त्रहीन ॥२७७॥
 त्या शांतीच्या वस्त्राभरणीं । नटविली माया जारिणी ।
 तिच्याकरवी मोहनी । भ्रष्ट केले सज्जनांना ॥२७८॥
 यांनीं विवेकाकारण । केले आश्रय-विहीन ।
 वैराग्याची सोलून । काढलीं यांनीं कातडीं ॥२७९॥
 यांनीं टाकिली मुरगाळून । जिवंत निग्रहाची मान ।
 यांनीं संतोषाचें वन । खणून सारें नष्ट केलें ॥२८०॥
 धैर्याचे दुर्ग पाडिले । आनंदाचे उपटिले- ।
 अंकूर यांनीं कोवळे । पहा मुळापासुनी ॥२८१॥
 बोधाचीं रोपें उपटिलीं । सुखाचीं अक्षरें पुसलीं ।
 आग यांनीं लाविली । तापत्रयाची चित्तासी ॥२८२॥
 हे देहासवे जन्मले । जीवा चिकटून राहिले ।
 प्रयत्नेंहि ना लागले । हातीं देवादिकांच्या हे ॥२८३॥
 जीवात्म्याच्या शेजारास । बसती वृत्तीच्या पंगतीस ।
 म्हणून आवरती ना कुणास । सज्ज होता आघाता ॥२८४॥

हे पाण्यावांचून बुडविती । आगीवांचून जाळिती ।
 हे जीवांना पकडिती । चाहूल लागूं ना देतां ॥२८५॥
 हे शस्त्रावांचून मारिती । दोरावांचून बांधिती ।
 ज्ञान्याचा हे घात करिती । पैज मारून लीलेनें ॥२८६॥
 काम क्रोध हे आवर्जून । गाडिती चिखलावांचून ।
 सर्व जीवांना जाळ्यांविण । बद्ध करून ठेविती हे ॥२८७॥
 हे जीवांच्या अंतरांत । फार खोल राहतात ।
 म्हणून कोणाहि न साधत । जिंकणें या कामक्रोधां ॥२८८॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।

यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जेवीं चंदनाच्या मूळाप्रति । सर्प वेढून राहती ।
 किंवा गर्भाच्या भोंवतीं । वार असते वेढिलेली ॥२८९॥
 २६१ वा धूमनें युक्त अग्नि । सूर्य युक्त त्याच्या तेजानीं ।
 किंवा आरशावरोनि । मळ जेवीं साचे सदा ॥२९०॥
 तेवीं कामक्रोधाविण । आम्ही पाहिलें नाहीं ज्ञान ।
 जेवीं जन्मा येतें धान्य । कोंड्यामधें गुंतलेलें ॥२९१॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।

कामरूपेण कौन्तेय दूष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

शुद्ध जरी मूळचें ज्ञान । तरी यांनीं घेतलें वेढून ।
 म्हणून प्राप्तीसी कठीण । ज्ञान झालें जीवा तें ॥२९२॥
 आधीं यांना जिंकावें । मग तें ज्ञान मिळवावें ।
 परी जिंकणें सोपें नव्हें । या कामक्रोधांसी ॥२९३॥

यांना जिंकावयाकारण । जें जें करावें साधन ।
 परी तें अर्णीत इंधन । घातल्यापरी मात्र होतें ॥२९४॥
 इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
 एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥
 जे जे करावे उपाय । ते ते यांना होती साह्य ।
 म्हणून नाही आश्चर्य । हेच जिंकित्ती हटयोग्या ॥२९५॥
 ऐसे कामक्रोध जरी । जिंकावया कठिण भारी ।
 एक साधन आहे परी । पार्था यांना आकळाया ॥२९६॥
 तें जरी तुड्याकडून । येणार असलें घडून ।
 तरी मी त्याचें वर्णन । करितों आतां तुजसाठीं ॥२९७॥
 तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
 पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥
 यांचा पहिला आश्रय । आहे पहा इन्द्रिय ।
 तेठारींच जन्म होय । प्रवृत्तीचा कर्माच्या ॥२९८॥
 आधीं इन्द्रियांचें म्हणून । सर्वथैव करावें दमन ।
 तेणें बळ संपेल पूर्ण । अर्जुना कामक्रोधांचें ॥२९९॥
 इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
 मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥
 मग हृदयाची धाव थांबेल । बुद्धीची सुटका होईल ।
 अशानें आधार तुटेल । अर्जुना या पातक्यांचा ॥३००॥
 एवं बुद्धेः परं बुद्ध्या संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
 जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

: ११२ :

ऐसे हे अंतरांतून । पार जातील निघून ।
 तेव्हांच त्यांचा संपूर्ण । नाश झाला समजावें ॥३०१॥
 जैसे सूर्याच्या मागून । किरणें जातां मावळून ।
 कोठेही न उरें स्थान । थोडेसेंहि मृगजळासीं ॥३०२॥
 २७१ काम-क्रोध वा राग-द्वेष । अर्जुना होता निःशेष ।
 तरी त्या जीवा अनायास । स्वरूप लाभें ब्रह्मतेचें ॥३०३॥
 लीन होऊन आत्म्याठारीं । आपुलें आपण तेथें पाही ।
 सुख-सर्वदा भोगीत राही । अर्जुना जें शब्दातीत ॥३०४॥
 गुरु-शिष्यांच्या भेटींतून । जीवा लाभें हें शिवपण ।
 त्या ठिकाणीं स्थिर होऊन । तेथून कधीं हलू नको ॥३०५॥
 असे सर्व सिद्धांचा भूपति । देवी लक्ष्मीचा जो पति ।
 तो देवाधिदेव यदुपति । बोले तेथ संजय म्हणें ॥३०६॥
 आतां पुनरपि तो अनंत । सांगेल एक प्राचीन वृत्त ।
 ज्यावेळीं तो पंडुसुत । प्रश्न त्यातें विचारील ॥३०७॥
 तें श्रीकृष्णाचें भाषण । वा अर्थ त्याचा रसपूर्ण ।
 श्रोत्यास देई मिळवून । श्रवणसुखाची समृद्धि ॥३०८॥
 या कृष्णार्जुन संवादाप्रति । ऐका प्रसन्न करून मति ।
 ऐसें श्रीज्ञानदेव म्हणती । शिष्य निवृत्तिनाथांचे ॥३०९॥



: ११३ :

आतां म्हणून सर्वेद्रियांनीं । शिरून एक बसावें कानीं ।
 मग ऐकावा गीतारूपांनीं । सुखसंवाद कृष्णांचा ॥ ६ ॥
 तयीं निवृत्तिनाथ म्हणाले । हें पाल्हाळ पुरें झालें ।
 सांग त्वरित जें बोललें । श्रीकृष्णार्जुन आपसांत ॥ ७ ॥
 ज्ञानदेव बरें म्हणून । करूं लागलें वर्णन ।
 संजय धृतराष्ट्राकारण । असें म्हणाला तेवेळीं ॥ ८ ॥
 स्वयें भाग्य खरोखर । आज जाहलें अर्जुनाकार ।
 म्हणूनि असे प्रेमें फार । कृष्ण बोलतो त्याच्यासवें ॥ ९ ॥
 श्रीकृष्ण जें गुह्यज्ञान । मातापित्यासहि सांगतो न ।
 राखिलें बलरामापासून । तें तो सांगे अर्जुनासी ॥ १० ॥
 लक्ष्मी किती जवळची । तिला न सुखें ज्या प्रीतीची ।
 प्राप्ति त्या कृष्णप्रेमाची । आज जाहली अर्जुनासी ॥ ११ ॥
 या ज्ञानाच्या प्राप्तीसाठीं । सनकादिकां आशा मोठी ।
 ११ परी त्यांच्याहि खटपटीं । यश येवढें आलें नसें ॥ १२ ॥
 श्रीकृष्णाचें अर्जुनावर । प्रेम दिसें अपरंपार ।
 अर्जुनानें केवढें थोर । पुण्य केलें कळत नाही ॥ १३ ॥
 ज्या प्रेमाच्या बळावर । निराकार झाला साकार ।
 जणूं झाले हे परस्पर । दोघे, प्रेमें एकरूप ॥ १४ ॥
 एरवीं न गवसे योग्याप्रति । वेदहि न ज्या जाणूं शकती ।
 ध्यानाचेही न पोंचताती । डोळे ज्याच्यापर्यंत ॥ १५ ॥
 निश्चल अनादि अनंत । तो आत्मस्वरूप भगवंत ।
 किती पहा कृपावंत । झाला अर्जुनप्रेमानें ॥ १६ ॥

: ११६ :

जो आकाराच्या अतीत । त्रैलोक्य ज्याच्या उदरांत ।
 तो कसा अगदीं हातांत । अर्जुना सांपडे प्रेमानें ॥ १७ ॥
 श्रीभगवानुवाच ।
 इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
 विवस्वान्मनवे प्राह मनुर्िक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥
 कृष्ण म्हणाले अर्जुनासी । आम्हीं हा योग सूर्यासी ।
 कथिला परी त्या गोष्टीसी । आज दिवस फार झाले ॥ १८ ॥
 सूर्यानें ही योगस्थिति । उपदेशिली मनूप्रति ।
 मनूनें कृतींत आणून ती । इक्ष्वाकूला सांगितली ॥ १९ ॥
 आम्हीं प्रथम सांगितली । तेव्हांपासून अशी भली ।
 ही क्रमानें विस्तारिली । योग-ज्ञान-परंपरा ॥ २० ॥
 एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
 स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥
 मग पुढें आणिकांनीं । जाणिलें या राजर्षींनीं ।
 परी तेव्हांपासुनी । आतां न कोणी जाणते या ॥ २१ ॥
 कारण विषय-वासनेवर । प्राण्यांचा पडला सारा भर ।
 आणि तयांना शरीर । वाटूं लागलें महत्त्वाचें ॥ २२ ॥
 वाढतां देहाचा अहंकार । बुद्धीही झाली तदाकार ।
 मग स्वाभाविकपणें विसर । पडला आत्मज्ञानाचा ॥ २३ ॥
 आत्म्याविषयीं विशेष । प्रेम असावें जिजेस ।
 ती बुद्धि, परी मार्गास । भलत्या आतां लागली कीं ॥ २४ ॥

: ११७ :

२१ मग विषयांच्या भोगांत । सुख वाटलें अत्यंत ।
 प्राणापलीकडे उपार्धीत । लोक रंगले प्रपंचाच्या ॥ २५ ॥
 ऐशी स्थिति होता निर्माण । कोणास रुचें आत्मज्ञान ।
 विषयसुखोपभोगी जन । निमग्न झाले भ्रांतीनें ॥ २६ ॥
 नागड्यांच्या समुदायांत । उंचीं वस्त्राचें न मोल होत ।
 जन्मांध जेथें राहतात । तेथें सूर्य नसल्यापरी ॥ २७ ॥
 जेथें बहिरे सारे जन । तेथ संगीता मानी कोण ? ।
 कोल्ह्यांचें कां कधीं मन । चांदण्याचें प्रेम धरी ! ॥ २८ ॥
 चंद्रोदयाच्या वेळेला । ज्याचा मिटून जातो डोळा ।
 ऐसा तो कां कावळा । चंद्राप्रति ओळखतो ? ॥ २९ ॥
 तैसें वैराग्य ज्या न शिवतें । विवेकाची भाषा न कळते ।
 ते मूर्ख मज ईश्वरातें । येऊन कैसे पोंचतील ॥ ३० ॥
 न कळे कसा मोह वाढला । तेणें फार काळ वायां गेला ।
 म्हणोनि पहा हा लुप्त झाला । जगीं निष्काम कर्मयोग ॥ ३१ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

तोच अर्जुन हा येथ । कर्मयोग तुजप्रत ।
 सांगितला आम्हीं सत्य । संशय कांही धरू नको ॥ ३२ ॥
 हें गुह्य माझ्या जीवांतलें । परी न चोरून ठेविलें ।
 सर्वहि तुजसीं सांगितलें । आवडता तूं म्हणूनिया ॥ ३३ ॥
 तूं प्रेमाचा अससी पुतळा । आहेस भक्तीचा जिव्हाळा ।
 तूच एक जीवनकळा । अससी पार्था मित्रतेची ॥ ३४ ॥

: ११८ :

तुझा माझा निकटचा । संबंध फार असे साचा ।
 म्हणून प्रसंग युद्धाचा । असतांही न फसवूं तुला ॥ ३५ ॥
 ३१ यास्तव युद्धाचा विचार । न करितां क्षणभर ।
 आधीं तव अज्ञान करूं दूर । कांहीं धांदल करितां ना ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच ।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।

कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अर्जुन कृष्णास म्हणें तयीं । प्रेम बाळावरीं करी आई ।
 कृपाळा सांगावें ये ठायीं । काय आहे आश्चर्य ॥ ३७ ॥
 तूं संसारतप्तांची साउली । अनाथ जीवांची माउली ।
 तुझी कृपाच आहे जाहली । देवा आमुची जन्मदात्री ॥ ३८ ॥
 जन्मा येतां पांगळें मूल । तें सांभाळावेंच लागेल ।
 जन्मभरी, तसें हें सकळ । काय सांगूं तुझें तुला ॥ ३९ ॥
 आतां पुसेन जें मी कांही । तें तूं नीट लक्षांत घेई ।
 आणि विचारण्याचा त्या कांहीं । देवा राग करूं नये ॥ ४० ॥
 तूं जें कथिलें पूर्ववृत्त । तें मी ऐकिलें देऊन चित्त ।
 परी कृष्णा तें यत्किंचित । पटत नाहीं मजलागीं ॥ ४१ ॥
 तूं जो म्हणशी विवस्वान् । वाडवडिलांहि न त्याचें ज्ञान ।
 मग तूं तयालागून । बोध केव्हां कसा केला ॥ ४२ ॥
 फार प्राचीन तो विवस्वान् । तूं तर सांप्रत विद्यमान ।
 म्हणून कृष्णा तव भाषण । विसंगत वाटतें मला ॥ ४३ ॥

: ११९ :

अगम्य तव चरित्र सगळें । काय त्यांतील मला कळें ।
 म्हणून तुझें भाषण भलें । सहसा खोटें मानू कसें ॥ ४४ ॥
 म्हणून विवस्वान् जो रवि । त्या तू उपदेश केला केवीं ।
 ही कथा मजसी पटावी । ऐशापरी सांग आतां ॥ ४५ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
 तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

४१ तयीं कृष्ण म्हणें पंडुसुता । तो विवस्वान् जेव्हां होता ।
 तेव्हां अज्ञानें, तुझ्या चित्ता । मी नव्हतों असें वाटें ॥ ४६ ॥
 तू न हें लक्षांत घेसी । कीं कित्येक वेळां जन्मासी ।
 'तू नि मी आलों' तें तुजसी । परी कांहीं आठवेना ॥ ४७ ॥
 परी ज्यासाठीं जयीं जयीं । मी अवतार धरून येई ।
 तें माझें मज सर्वही । पूर्ण आठवें धनुर्धरा ॥ ४८ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
 प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

म्हणून आतांही मज पाही । मागील आठवे सर्वही ।
 मी अजन्मा असूनही । जन्मा येतो मायेमुळें ॥ ४९ ॥
 पहा माझा अविनाशीपणा । कधींही नाहीसा होतो ना ।
 परी येणें जाणें या क्रियांना । योग-मायेनें दाखवितो ॥ ५० ॥
 अर्जुना माया-शक्तीनें । माझें दिसणें, क्रिया करणें ।
 प्रतिबिंब पडल्याप्रमाणें । माझ्याठायीं दिसोनि ये ॥ ५१ ॥

: १२० :

माझी स्वतंत्रता न मोडते । तरी कर्म करतो हें भासतें ।
 बुद्धीस माया भ्रमविते । म्हणोनि वाटें हें सारें ॥ ५२ ॥
 जसें पार्था आरशामुळें । एकाचें दुसरें वाटें झालें ।
 वस्तुस्थितीनें काय आलें । परी खरे द्वैत तेथें ॥ ५३ ॥
 तैसा मी असून अमूर्त । जयीं मायेचा आश्रय घेत ।
 तेव्हां कांहीं कार्यानिमित्त । नटतो सगुणरूपानें ॥ ५४ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

अर्जुना युगायुगांतून । करावें धर्माचें रक्षण ।
 हा तो पहिल्यापासून । माझा आहे स्वभावचि ॥ ५५ ॥
 जेव्हां अधर्म हा लोकांत । धर्मास करी पराभूत ।
 तेव्हां अजत्व निर्गुणत्व । माझें विसरून जातो मी ॥ ५६ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

५१ भक्तांचा घ्यावया कैवार । घेतों सगुणपणें अवतार ।
 मग अज्ञानाचा अंधकार । समूळ करितों नाहीसा ॥ ५७ ॥
 अधर्माचे कोट तोडितों । दोषांचे लेख फाडितों ।
 सज्जनाहातीं उभारितों । गुढ्या सुखाच्या सर्वठायीं ॥ ५८ ॥
 दैत्यांचीं नाशितों कुळें । करितों 'संता मान मिळे' ।
 सांगड घालितों माझ्या बळें । धर्माची नि नीतिची ॥ ५९ ॥
 विवेकाचे दीप सकळ । करून ठेवितों उज्वल ।
 कीं ज्यायोगें तेथ काजळ । अविवेकाचें धरेल ना ॥ ६० ॥

: १२१ :

आणि ज्या विवेकदीपांनी । वाटावें योगीजनां मनीं ।
 कीं ही लाभली अखंडपणीं । आम्हां दिवाळी ज्ञानाची ॥ ६१ ॥
 विश्व सारें आत्मसुखानें । कोंदाटेल पूर्णपणें ।
 आणि केवळ धर्मानें । नांदावें सर्व जगामर्थें ॥ ६२ ॥
 आणि माझे भक्तजन । जे कां साधू सज्जन ।
 पुष्टि येत त्याकारण । सात्विकादि भावांनीं ॥ ६३ ॥
 पापाचा कोसळे पर्वत । पुण्याची होते प्रभात ।
 जयीं माझी प्रगट होत । सगुण मूर्ति अर्जुना ॥ ६४ ॥
 कामें कराया ही ऐशी । मी जन्मतों युगायुगासी ।
 परी विवेकी जो तयासी । जर्गीं हें ये ओळखाया ॥ ६५ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

अजन्मा असून जन्म घेणें । अक्रिय असून कर्म करणें ।
 ही अलिप्तता मम जो जाणें । तो मानावा परममुक्त ॥ ६६ ॥
 मग तो करितां व्यवहार । न धरी देहाचा अहंकार ।
 तेणें सहज मृत्यूनंतर । मत्स्वरूपीं येऊन मिळे ॥ ६७ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

एवीं असतां जीवनीं । बऱ्या वाईट कारणांनीं ।
 हर्षशोक आपुल्या मनीं । ते न कधीं येऊं देती ॥ ६८ ॥
 झाल्यानें कामनारहित । क्रोधाचिया वाटेप्रत ।
 अर्जुना तयांचे तें चित्त । कधींही कीं जात नाहीं ॥ ६९ ॥

: १२२ :

६१ माझ्यावांचून अंतर्बाह्य । तयां नसे दुसरा विषय ।
 माझी सेवा हेंच ध्येय । त्यांच्या सर्व जीवनाचें ॥ ७० ॥
 आत्मबोधानें मानसीं । संतुष्ट जाहले विशेषीं ।
 गेली सोडून तयासी । सर्वप्रकारें आसक्ति ॥ ७१ ॥
 तपतेज झालें संचित । त्याची जे राशी मूर्त ।
 एकमात्र ज्ञानाप्रत । आश्रयस्थान जे झाले ॥ ७२ ॥
 ज्यांच्यामुळें पवित्रता । तीर्थासी ये तत्त्वतां ।
 फार काय तेंच स्वतः । असती स्वयें तीर्थरूप ॥ ७३ ॥
 तें माझ्या स्वरूपीं मिळालें । सहज 'मी' होऊन राहिलें ।
 कोणतेंही आतां न उरलें । द्वैत त्यांच्या-माझ्यामध्ये ॥ ७४ ॥
 कळकविणें, काळे होणें । हे पितळाचे दोष जाणें ।
 ते नसल्यासी पूर्णपणें । सोनें वेगळे राहतें कां ॥ ७५ ॥
 तैसें यमनियमांच्या कसाला । जो पूर्णपणें उतरला ।
 आणि जो कां निर्मळ झाला । तपश्चर्येने ज्ञानानें ॥ ७६ ॥
 ते माझ्या स्वरूपीं मिळती । नव्हे केवळ मीचि होती ।
 येथ लवहि संशयाप्रति । स्थान नाहीं कोणतेंहि ॥ ७७ ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

अर्जुना पाहतां विचारीं । मज जो भजतो जैशापरी ।
 मीही उलट त्याचपरी । तयासी कीं वागवितो ॥ ७८ ॥

: १२३ :



मनुष्यप्राणी जे सकल । ते स्वभावानें भजनशील ।
 माझ्याठायींच केवळ । असती पहा तत्त्वतां ॥ ७९ ॥
 परी ज्ञान नसल्यामुळें । बुद्धिभेद त्यांचे झाले ।
 म्हणोनि त्यांनीं कल्पिलें । एक असतां अनेकत्व ॥ ८० ॥
 भेद पाहती अभेदांत । अनामा नाम ठेवितात ।
 ज्याच्याविषयीं न बोलता येत । देव देवी म्हणती तया ॥ ८१ ॥
 सदा सारखे सर्वकाळीं । तत्त्व असून, तें स्थलीं- ।
 भल्याबुऱ्याची कल्पना केली । भेदबुद्धीत घोटाळुनी ॥ ८२ ॥
 ७९ मग नाना कल्पना धरोनि । नानाविध पद्धतींनीं ।
 भजती नाना प्रकारांनीं । मानिलेल्या देवतांना ॥ ८३ ॥
 तेथ जें जें त्यांच्या मनांत । तें ते सर्व प्राप्त होत ।
 परी ही प्राप्ति निश्चित । फळ त्यांच्या कर्माचें ॥ ८४ ॥
 नीट विचारें पाहतां । कोणी न अन्य देता घेता ।
 आपुलेंच कर्म तत्त्वतां । मनुष्यलोकीं फलदायीं ॥ ८५ ॥
 शेतीं पेरिलें जयातें । तेंच जसें उगवून येतें ।
 आरशामधें पाहिलें जातें । तेंच येतें दिसोनि ॥ ८६ ॥
 वा डोंगराच्या कड्याजवळीं । राहून जी बोलूं बोली ।
 तीच पुन्हा उमटे भली । प्रतिध्वनीच्या रूपानें ॥ ८७ ॥
 तैशा सर्व ज्या उपासना । त्यांचा साक्षी मी अर्जुना ।
 उपासकाची जी भावना । तीच त्यासी फळ देतें ॥ ८८ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
 तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

: १२४ :



न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
 इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥
 आतां समज याचपरी । ब्राह्मणादि वर्ण चारी ।
 मी निर्मिले या भूवरीं । गुणकर्म विभागानें ॥ ८९ ॥
 देह-प्रकृति अनुसरून । गुणभेद लक्षांत घेऊन ।
 कर्म दिलीं विभागून । वर्णापरी मानवांना ॥ ९० ॥
 सर्व एक असून मूळचें । चार वर्ण झाले त्याचे ।
 स्वभाव ते गुणकर्माचे । पाहून केली विभागणी ॥ ९१ ॥
 ८९ म्हणोनिया पहा पार्था । ही जी वर्णभेदाची व्यवस्था ।
 तिचा मी नाहीं सर्वथा । कर्ता, शोधितां विचारें ॥ ९२ ॥
 माझ्यामुळें हे घडतें जरी । मी न त्याचा कर्ता तरी ।
 हें ओळखी जो अंतरीं । तो ज्ञाता मुक्त होतो ॥ ९३ ॥
 एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
 कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वंः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥
 पूर्वीं मुमुक्षू जे झाले । त्यांनी मज ऐसें जाणिलें ।
 आणि निष्ठापूर्वक केलें । आचरण सर्व कर्माचें ॥ १४ ॥
 बीजें जैशीं जाळलेलीं । उगवतीं न जरी पेरिलीं ।
 तैशीं बंधक न होतां झालीं । मोक्षहेतू कर्म तया ॥ १५ ॥
 अर्जुना आणिकही येथ । एक महत्त्वाचें अत्यंत ।
 कीं स्वबुद्धीनें न करतां येत । विवेक कर्माकर्माचा ॥ १६ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
 तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्षयसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

: १२५ :

कर्म म्हणावें तें कोण । वा अकर्माचें काय लक्षण ।
याचा विचार करितां पूर्ण । शाहणेहि घोटाळती ॥ १७ ॥
जैसे कां खोटे नाणें । थेट दिसे खऱ्याप्रमाणें ।
जाणत्यांच्याहि, त्या योगानें । संशय वाटे, दृष्टीला ॥ १८ ॥
प्रतिसृष्टि करण्याप्रत । सामर्थ्य ज्यांच्या संकल्पांत ।
तेही ' जाहलो कर्मातीत ' । या भ्रमें कर्मी गुंतती ॥ १९ ॥
दूरदृष्टीचेही होती भ्रांत । काय मूर्खाची कथा तेथ ।
म्हणोनि विवेक तो समस्त । सांगतों ऐक तुज आतां ॥ १०० ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

विश्व स्वभावं साकारतें । कर्म म्हणावें तयातें ।
नीटपणानें प्रथम तें । जाणून घेतलें पाहिजें ॥ १०१ ॥
मग वर्णाश्रमासी उचित । विशेष कर्म जें विहित ।
तेंही उपयुक्ततेसहीत । निश्चयानें ओळखावें ॥ १०२ ॥
११ मग निषिद्ध म्हणती जया । नीट जाणून घ्यावें तया ।
एवढें होतां धनंजया । कर्म बंधक होती ना ॥ १०३ ॥
एव्ही जग हें संपूर्ण । आहे कर्माच्या आधीन ।
त्याच्या विस्ताराचें वर्णन । करणें कठीण फार आहे ॥ १०४ ॥
म्हणून तसेंच असो तें । परी सार्थकता लाभे ज्यातें ।
वा जे पोंचले आत्मस्थितीतें । त्यांचे चिन्ह कथितों तुला ॥ १०५ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

: १२६ :

' मी ' मूळचा कर्मातीत । हें जाणें, असतां कर्मात ।
आणि होत ना फलासक्त । जो कर्माच्या संगतीनें ॥ १०६ ॥
' कर्तव्य ते व्हावया सत्य । जगामधें नाहीं द्वैत ' ।
ऐसा निष्कर्मतेचा चित्तांत । बोध ज्याच्या ठसला असे ॥ १०७ ॥
सर्व प्रकारचीं कर्में परीं । जगांत उत्तमरीतीं करी ।
या लक्षणांनीं त्यास तरी । ज्ञानी म्हणून ओळखावें ॥ १०८ ॥
उभा राहून पाण्यापार्शी । पाण्यांत पाहून आपणासी ।
जसा निश्चय असतो मनासी । कीं आहे मी वेगळा ॥ १०९ ॥
वा जातां वेगें नावेतुनी । वृक्ष जे तीरावरूनी ।
ते चालती असे ये दिसोनि । वस्तुस्थितीनें वृक्ष स्थिर ॥ ११० ॥
तैसें आचरितां कर्मास । कर्म हा जाणून आभास ।
जो आपल्या निष्कर्मतेस । तें बाधे हे मानी ना ॥ १११ ॥
उगवतो नी मावळतो । यामुळें वाटे चालतो ।
वस्तुतः स्थिर असे तो । सूर्य जेवीं आकाशीं ॥ ११२ ॥
तैसें कर्मांमधें असून । वा कर्में करीत राहून ।
' अभंग असे ' जाणें पूर्ण । आपुली जो ' निष्कर्मता ' ॥ ११३ ॥
तो मनुष्यासम दिसे जरी । सामान्य मानव नसे तरी ।
प्रतिबिंबानें जलांतरी । बुडे न जेवीं सूर्यबिंब ॥ ११४ ॥
कर्मी असून निष्कर्मता । साधली ज्यासी तत्त्वतां ।
१०९ त्यानें विश्व ना पाहतां । सर्व पाहिल्यापरी होतें ॥ ११५ ॥
तो न करितां सर्व करी । ऐसें मानावें खरोखरी ।
आणि भोग नानापरी । भोगी, न भोगतां, जाणावें ॥ ११६ ॥

: १२७ :

जरी बसला स्थानीं एक । तरी तो सर्वत्र व्यापक ।
कारण सर्व हें विश्व देख । तो स्वयेंचि झाला असे ॥११७॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

कर्माविषयींचा कंटाळा । नसतो त्या पुरुषाला ।
परी अपेक्षा नसे त्याला । लवही कर्माच्या फळाची ॥११८॥
किंवा मी हें कर्म करीन । वा आरंभिलें पुरें करीन ।
अशा अहंकारासी स्थान । नसें त्याच्या मनामधें ॥११९॥
ज्ञानरूपीं अग्निज्वाला । जाळीते ज्याच्या कर्माला ।
आतां मनुष्यरूपें त्याला । प्रत्यक्ष ब्रह्म समजे तूं ॥१२०॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

तो शरीराविषयीं उदास । फळभोगाची न इच्छा त्यास ।
असें असूनही उल्हास । अखंड त्याच्या चित्तीं वसे ॥१२१॥
तो संतोषाच्या माजघरीं । आत्मबोधाचें भोजन करी ।
आणि या भोजना अंतरीं । पुरें असें न कधीं म्हणें ॥१२२॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

अहंतेसह आशा सारी । कुर्वडून टाकी दुरी ।
परमानंदाभीतरीं । रमे वाढत्या प्रेमानें ॥१२३॥
म्हणोनि जें जें होईल प्राप्त । सहज सुख मानी तयांत ।
आपुलें परकें हें द्वैत । उरलें नसें तयाला ॥१२४॥

: १२८ :

तो दृष्टीनें जें पाहतो । तें स्वतःच होऊन जातो ।
वा कानानें जें ऐकतो । तेंही तोच होतो स्वयें ॥१२५॥
१११ त्याचें पायानें चालणें । किंवा मुखानें बोलणें ।
वा इतर कांहीं क्रिया करणें । हेंही सर्व तोच असे ॥१२६॥
फार काय विश्व पूर्ण । न मानी आपणाहून भिन्न ।
आतां कर्म कसलें कोण । बाधक होईल तयासी ॥१२७॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

‘ द्वैत ’ असता मत्सर वाटे । तें ज्या जवळीं झालें खोटें ।
मग वैशिष्ट्य राहिलें कोठें । तो निर्मत्सर बोलण्यांत ॥१२८॥
म्हणून सर्वप्रकारें तो मुक्त । कर्म करितां, कर्मरहित ।
गुणांत असुनी गुणातीत । जाणावें त्या निःसंशय ॥१२९॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

तो देहधारी असे जरी । मूर्तिमंत चैतन्य परी ।
शुद्धतेत उतरे निर्धारी । परब्रह्माच्या कसोटीसी ॥१३०॥
असेंही असतां कौतुकातें । करी यज्ञादि कर्मातें ।
तरीं तें कर्म लय पावतें । सर्व त्याच्याच ठिकाणीं ॥१३१॥
मेघ अवेळीं जमलेले । बळ न दाविती आपुलें ।
नभीं उठती त्याचवेळें । विरघळुनी जाती जसें ॥१३२॥
तैसीं शास्त्राज्ञेनें विहित । तो कर्म करीं समस्त ।
परी नसल्यानें त्यास द्वैत । ऐक्यांत लीन होती तीं ॥१३३॥

: १२९ :



ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥१४॥

हैं एक हवन, मी होता । वा हा यज्ञाचा कुणी भोक्ता ।
ही कल्पनांची भिन्नता । नसे तयाच्या बुद्धीमधे ॥१३४॥
म्हणून यज्ञ जे तो करी । त्यांतील मंत्र वा द्रव्ये सारीं ।
सर्वही आत्म्याभीतरीं । पाहीं अक्षयभावानें ॥१३५॥

१२१ म्हणोनि ब्रह्म आणि कर्म । एकरूप कळलें उत्तम ।
मग सहजपणानें निष्कर्म । ' कर्म करणें ' होय त्याचें ॥१३६॥
अविवेकरूपीं बालपण । सरून, ये विवेक-यौवन ।
मग तयानें पाणिग्रहण । केलें विरक्ति-युवतीचें ॥१३७॥
मग योगरूपीं अग्नीची । उपासना करिती साची ।
ऐशारीतीनें ज्ञानाचीं । घेतलीं त्यांनीं अग्निहोत्रें ॥१३८॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुहति ॥२५॥

यज्ञ करण्यामधे गुंतून । राहती जे रात्रंदिन ।
गुरुबोधाग्रीत देती हवन । मनाच्यासह अविद्येचें ॥१३९॥
हे जे योगाग्निहोत्री करिती । दैवयज्ञ त्यासी म्हणती ।
आत्मसुखाची व्हावी प्राप्ति । ऐशी इच्छा पार्था तया ॥१४०॥
दैवयज्ञ हा जो करितो । महायोगी जाणावा तो ।
तो न चिंता लवहि करितो । निजदेहाच्या पोषणाची ॥१४१॥
कारण देहाचें रक्षण । असें प्रारब्धाच्या आधीन ।
ऐसा निश्चय परिपूर्ण । जाहला असे तयाचा ॥१४२॥

: १३० :



आतां ऐक दुसरा प्रकार । ज्यांचें असें अग्निहोत्र ।
ब्रह्मरूप अग्नीचें, ते मात्र । यज्ञें यज्ञा उपासिती ॥१४३॥
म्हणजे जीवोपाधी टाकून । मिळविती शुद्ध आत्मज्ञान ।
आणि त्या ज्ञानानें पूर्ण । ब्रह्म घेती ओळखोनि ॥१४४॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुहति ।

शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुहति ॥२६॥

धारणा ध्यान समाधि । यांना संयम ही प्रसिद्धी ।
या संयमाचे संबंधीं । अग्निहोत्री असती जे ॥१४५॥
ते मूल जालंदर उडियान । या तीन बंधांचे मंत्र जपून ।
इंद्रियां पवित्र द्रव्ये कल्पून । त्यांनीं यज्ञ संपादिते ॥१४६॥
वैराग्यसूर्य उगवतां, कोणी । कुंडें बांधितीं संयमानीं ।
त्या संयमाच्या कुंडांत अग्नि । इंद्रियरूप प्रगट होतीं ॥१४७॥
त्या इंद्रियरूपीं अग्नींत । विरक्तीचा जाळ पेटत ।
जळू लागतीं त्या जाळांत । लाकडे कामक्रोधादींचीं ॥१४८॥
मग प्रदीप्त होतो अग्नि । त्या पांचही कुंडामधुनि ।
तेणें आशारूपीं त्यांतुनी । धूर थांबे निघायाचा ॥१४९॥
मग त्या इंद्रियाग्रींच्या कुंडांत । विषयाच्या आहुति देतात ।
अनेक प्रकारांनीं चित्तांत । अर्थ जाणून शास्त्राज्ञेचा ॥१५०॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।

आत्मसंयमयोगाग्नौ जुहति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

१३१ यापरी अर्जुना कांहींनीं । दोष टाकिले धुवोनि ।
कांहीं दुसऱ्या इतरांनीं । यज्ञ केले भिन्नरीती ॥१५१॥

: १३१ :

दोन काष्ठांच्या घर्षणांनी । प्रगट होतो जाणसी अग्नि ।
 त्यांतील खालचे काष्ठ ' अरणी ' । हें यांनी केलें हृदयाचें ॥१५२॥
 घर्षणांतील काष्ठ वरचें । ज्यांस ' मंथा ' म्हणती साचे ।
 तें मंथाकाष्ठ विवेकाचें । यांनी केलें तयाठायीं ॥१५३॥
 मग मनाच्या निग्रहानें । घट्ट धरिलें त्याकारणें ।
 वरून दिधला धैर्यानें । भार त्यावरी चांगला ॥१५४॥
 मग श्रीगुरूचा उपदेश । ही दोरी गुंडाळिली त्यास ।
 आणि केलें मंथनास । बळ लावोनि वेगानें ॥१५५॥
 ऐसें मंथन समदृष्टीनें । करितां काम झालें त्वरेनें ।
 प्रगट झाला या कृतीनें । तेथें अग्नि ज्ञानरूपी ॥१५६॥
 ऋद्धिसिद्धीचें आकर्षण । तो पहिला धूर गेला निघोन ।
 मग ते ठायीं अग्निकण । बारीक दिसूं लागले ॥१५७॥
 यमदमं शुष्क झालेलें । कामहीन मन मोकळें ।
 तेंच पेटवण घातलें । सूक्ष्माग्नि तो वाढवाया ॥१५८॥
 मग निरनिराळ्या वासना । समिधा कल्पून तयांना ।
 अग्निमधें केलें हवना । पेटवणानें वाढलेल्या ॥१५९॥
 समिधासर्वें अग्नींत । ममतेचें अर्पिलें घृत ।
 तेणें तो प्रज्वलित । अग्नि झाला सहजपणें ॥१६०॥
 मग यज्ञकर्त्या दीक्षितांनीं । ' ब्रह्म मी ' या मंत्रांनीं ।
 इंद्रियकर्मांच्या आहुतींनीं । ज्ञानाग्नींत हवन केलें ॥१६१॥
 वृत्तीरूप जी प्राणक्रिया । येथें सुवा मानून तया ।
 तिनें देती धनंजया । पूर्णाहुति या यज्ञांत ॥१६२॥

मग सहजीच शेवटीं । जीवशिवाची जी भेटी ।
 त्या ऐक्यबोधाची पडून मिठी । अवभृथ स्नान होतसें ॥१६३॥
 मग या संयमरूपीं यज्ञांत । विषयादि करून अर्पित ।
 राहते जें उर्वरित । सुखआत्मबोधाचें ॥१६४॥
 तोच मानून पुरोडाश । यज्ञांतील अवशेष ।
 सेवन करिती तयास । आत्मसंयम यज्ञांत या ॥१६५॥
 या ऐशा प्रकारांनीं । यज्ञ यथासांग करोनि ।
 कित्येक साधक त्रिभुवनीं । पार्था पहा मुक्त झाले ॥१६६॥
 या सर्वही यज्ञक्रिया । बाहेरुनी दिसावया ।
 जरी वाटताती वेगळ्या । तरी सर्वांचें साध्य एक ॥१६७॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

१४१ एका द्रव्ययज्ञ म्हणती । एक तपोबळानें साधती ।
 योगामुळें जें निर्माण होती । योगयज्ञ म्हणती तया ॥१६८॥
 कित्येक शब्दांचें शब्दांनी । हवन करिती या जनीं ।
 म्हणजे मंत्रा उच्चारुनी । त्यास म्हणती वाग्यज्ञ ॥१६९॥
 कोणी मनाच्या वृत्तींतून । धारण करिती पूर्ण मौन ।
 या मौनास कांहीं सज्जन । वाग्यज्ञ ऐसे म्हणताती ॥१७०॥
 जें उचित जाणावयासी । जाणून घेती तयासी ।
 ज्ञानानें, पार्था तयासी । लोकीं म्हणती ज्ञानयज्ञ ॥१७१॥
 पार्था हे सर्व यज्ञ जाण । सर्व दृष्टीनें फार कठीण ।
 कारण त्याचें अनुष्ठान । असें अत्यंत त्रासाचें ॥१७२॥

जयांनीं सर्वथा आपुलीं । इंद्रियें आहेत जिंकिलेलीं ।
त्यासीच योग्यता प्राप्त झाली । या यज्ञाची जाणावें ॥१७३॥
योगाचें ऐश्वर्य संपादन । यज्ञीं मिळविती प्राविण्य ।
करून अहंतेचे हवन । आत्मज्ञाना प्राप्त होती ॥१७४॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।

प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

एक अपान अग्नीचें मुखांत । प्राणाच्या आहुति देतात ।
म्हणजे ते साधतात । प्राणायाम रेचकानें ॥१७५॥
उलट कांहीं प्राणाग्नीत । हवन करिती अपानाप्रत ।
म्हणजे तें साधतात । प्राणायाम पूरकानें ॥१७६॥
हे अभ्यासानें साधती । कोणी दोघांच्याही गति ।
निरोधोनि, स्थिर होती । प्राणायामी म्हणती तथा ॥१७७॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

कोणी साधक जे वज्रासन । त्या मूलबंधापासून ।
हटयोगासी अवलंबून । अभ्यास करिती क्रमानें ॥१७८॥
आणि विषय सर्व इंद्रियांचें । ज्या आहार म्हणती साचे ।
निग्रहें करिती त्यांचें । यथोचित नियंत्रण ॥१७९॥
आणि या साधनानें । उल्हास धरूनी मनानें ।
प्राणरूपीं अग्नीत हवनें । करितीं ते प्राणांचींच ॥१८०॥

: १३४ :

ऐसे यज्ञकर्ते हे सकळ । मोक्षासीच इच्छिती केवळ ।
त्यांनीं निजमनांतील मळ । टाकिले धुवोनि यज्ञें या ॥१८१॥
सर्व प्रकारचें अज्ञान । गेल्यावरती जळून ।
मग तेथें अवशिष्ट म्हणून । स्वभावानें उरतें जें ॥१८२॥
त्या ब्रह्मस्थितींत तत्त्वतां । अग्नि किंवा यज्ञकर्ता ।
ऐशी कांहींच भिन्नता । उरत नाही यत्किंचित् ॥१८३॥
यज्ञकर्त्याचें ज्या स्थितींत । पूर्ण होती मनोरथ ।
आणि यज्ञविधीहि समस्त । संपून जातो जे ठायीं ॥१८४॥
आणि यज्ञासाठीं क्रिया । विविध लागती करावया ।
काम संपल्यानें त्याही तथा ।-स्थितींतून फिरती मार्गे ॥१८५॥
१५१ जेथ न विचारा प्रवेश । स्थान न जेथें तर्कास ।
लेप न लागे ज्या स्थितीस । द्वैत-दोषाच्या संगतीनें ॥१८६॥
ऐसे अनादिसिद्ध निर्मळ । यज्ञानंतर उरे केवळ ।
तें आत्मज्ञान परमोज्वल । सेवन करिती यज्ञकर्ते ॥१८७॥
' मी ब्रह्म ' या मंत्रानीं । ब्रह्मनिष्ठ असे जे ज्ञानी ।
सेवन करिती आनंदानीं । यज्ञावशिष्ट आत्मज्ञान ॥१८८॥
याप्रमाणें यज्ञांतलें । अमृत शेष राहिलेलें ।
पिवोनि तुम होती भले । मग मृत्यूतें जिंकिती ॥१८९॥
अमर्त्यभाव ऐसा येतां । सहजपणें तो यज्ञकर्ता ।
ब्रह्मरूप होतो तत्त्वतां । पहा अर्जुना श्रमाविणें ॥१९०॥
परंतु ते इतर जन । जर्गीं जन्मल्यापासून ।
योगयागाचें आचरण । स्वधर्मानें करिती ना ॥१९१॥

: १३५ :

संयमरूपी अग्नीची । सेवा ज्या न घडते सार्ची ।
 त्यांना अर्जुना वैराग्याची । भेटहि ना होते कधीं ॥१९२॥
 मग अशांना संसारांतलें । सुख भोगाया धड न मिलें ।
 आतां परलोक त्यांचें भलें । विचारणेंच व्यर्थ आहे ॥१९३॥
 म्हणून पार्था त्याचेविषयी । उगीच येथें बोलूं कायी ।
 नांवही जया दुःख देई । यज्ञाचें वा विरक्तीचें ॥१९४॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
 कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानिवं ज्ञात्वा विमोक्षयसे ॥३२॥

ऐसे वेदानें सविस्तरां । ज्या कथिले परोपरी ।
 ते यज्ञ नानाप्रकारां । आम्ही कथिलें तुजलागीं ॥१९५॥
 परंतु त्या विस्तारासी । कर्तव्य नाहीं आपणासी ।
 कर्मजन्य जाणतां यज्ञासी । लागे न बंध कर्माचा ॥१९६॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
 सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥
 तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
 उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥
 यज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
 येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

जे वेदांनीं सांगितलेलें । ' स्थूल ' म्हणती क्रियेमुळें ।
 स्वर्गसुख हें मानिलेलें । आहे ज्याचें अपूर्व फळ ॥१९७॥
 जे द्रव्यादींनीं साधती । ते जरी यज्ञचि असती ।
 तरी न येई कवण्यारीतीं । ज्ञानयज्ञाची सरी तया ॥१९८॥

: १३६ :

नक्षत्रें जरी चमकतीं । तरी भास्कराचिया पुढतीं ।
 निस्तेज होऊन राहतीं । तैसेंच होते याठायीं ॥१९९॥
 पहा अर्जुना परमात्मसुख । हाच ठेवा अलौकिक ।
 तो लाभाया योगीलोक । ज्ञानरूपीं अंजनासी - ॥२००॥
 निजबुद्धीच्या लोचनांत । घालावयासी न विसरतात ।
 होतसे जया ज्ञानांत । समाप्ति केल्या कर्माची ॥२०१॥
 नैष्कर्म्य बोधाचें जें ज्ञान । आहे मूळ आश्रयस्थान ।
 जें करीतसें समाधान । आत्म्यासाठीं-भुकेल्याचें ॥२०२॥
 जेथ प्रवृत्ति पांगळी होते । तर्काची दृष्टि अंधारते ।
 ज्याच्यायोगें इंद्रियातें । विसर पडे विषयांचा ॥२०३॥
 जातें मनाचें मनपण । सरे शब्दांचें बोलकेंपण ।
 ज्यांत राहिलेलें गुंतून । ज्ञेय प्रत्यक्ष भेटतें ॥२०४॥
 जेथ वैराग्याची दीनता । नाहींशी होते तत्त्वतां ।
 विवेकासही तृप्तता । हांव संपून जेथ लाभे ॥२०५॥
 न पाहतांहि जे ठायीं । आत्मस्वरूप लवलाही ।
 सहजपणें प्रगट होई । असें जें कां अलौकिक ॥२०६॥
 तें श्रेष्ठ ज्ञान आपणासी । जरी प्राप्त व्हावें म्हणसी ।
 तरी अर्जुना तूं संतांसी । सर्वभावे शरण जावें ॥२०७॥
 संत ज्ञानाचें असती घर । सेवा हें त्या घराचें दार ।
 अर्जुना तें खरोखर । स्वाधीन करून घ्यावें तूं ॥२०८॥
 म्हणोनि देहासह जीवभावे । त्यांच्या पदा शरण जावें ।
 अभिमान सोडून करावें । दास्य त्यांचे नानारीतीं ॥२०९॥

: १३७ :



मग सेवेने संतोषवून । संतांप्रति करितां प्रश्न ।
 ते करितील समाधान । अर्जुना तुझ्या इच्छेचें ॥२१०॥
 त्यांच्या बोधानें अंतःकरण । जाहल्या ज्ञानसंपन्न ।
 पुन्हां कधीही परतून । संकल्पाकडे वळेल ना ॥२११॥
 संत-बोधाच्या प्रकाशांत । असें निर्भय होतें चित्त ।
 कीं कोणताहि संशय तेथ । ब्रह्मभावीं उरत नाही ॥२१२॥
 त्यावेळीं माझ्या स्वरूपांत । सर्वभूतां स्वतःसहित ।
 पाहशील तूं निश्चित । अखंडितपणें अर्जुना ॥२१३॥
 १७१ ऐशी गुरुकृपा झाल्यावरी । ज्ञान प्रकाशं सर्वतोपरी ।
 मग सहज होईल दुरी । अंधार हा मोहरूपी ॥२१४॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥

जरी पातकांचे कोठार । वा पार्था, भ्रांतीचा सागर ।
 तूं अससी, वा पर्वताकार । भ्रम गोंधळ असो तुझा ॥२१५॥
 तरी या ज्ञानशक्तीपुढें । तें सर्व ठरेल बापुडें ।
 ज्ञानाठायीं एवढें । सामर्थ्य आहे निःसंशय ॥२१६॥
 ब्रह्म निर्गुण निराकार । त्याच्या छायेसम हा थोर ।
 सर्व विश्वाचा आकार । जो भ्रमानें भासतो ॥२१७॥
 तोही सहजपणें जेथ । जयाच्या कीं प्रकाशांत ।
 नाहीसा होतो समस्त । असें प्रभावी ज्ञान हें ॥२१८॥
 त्याच्यापुढें काय कथा । या मनोमळांची तत्त्वतां ।
 दुसरें विचारी पाहतां । समर्थ न या ज्ञानापरी ॥२१९॥

: १३८ :



यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

धुराप्रमाणें लोक तिन्हीं । ज्यानें उडून जाती गगनीं ।
 त्या प्रलयाच्या वादळांनीं । मेघ टिकून राहती कां ? ॥२२०॥
 वा जो क्षोभला प्रभंजनें । आणि पेटतो पाण्यानें ।
 त्या प्रलयाग्रीस तृणानें । दाबून ठेवतां येई कां ? ॥२२१॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

म्हणोनि विचारानें पाहतां । हें अशक्य असें सर्वथा ।
 असो ज्ञानासम पवित्रता । अन्यत्र कोठें दिसते ना ॥२२२॥
 यास्तव उत्तम अद्वितीय । ज्ञान हेंच एक होय ।
 चैतन्यासारिखें काय । दुसरें कांहीं जर्गी असें ॥२२३॥
 जरी प्रतिबिंबाची सूर्यासी । तुलना येई करायासी ।
 वा कवळून आकाशासी । जरी धराया सांपडेल ॥२२४॥
 १८१ वा पृथ्वीच्या तुलनेंत । कांहीं मिळतां भारयुक्त ।
 तरी अर्जुना ज्ञानाप्राप्त । उपमा देतां येईल ॥२२५॥
 विचार केल्या नानापरी । पुन्हा पुन्हा शोधिल्यावरी ।
 ज्ञानाची पवित्रता पुरी । ज्ञानामध्यें दिसोन ये ॥२२६॥
 जेवी अमृतासारखें मधुर । एक अमृत खरोखर ।
 तैसें ज्ञानास शोभे निर्धार । उपमा एक ज्ञानाची ॥२२७॥
 याहून अधिक बोलणें । म्हणजे वेळ नासणें ।
 तेव्हां म्हटलें अर्जुनानें । देवा योग्य कथिलें तुम्हीं ॥२२८॥

: १३९ :



परी त्या ज्ञानाची प्राप्ति । होईल आम्हां कैशारीति ।
असें पुसावेसें चित्तीं । वाटलें जों अर्जुनाला ॥२२९॥
तों तें कृष्णांनीं जाणिलें । आणि ते त्यास म्हणाले ।
ज्ञानप्राप्तीचे उपाय भले । कथितों ऐक सावचित्त ॥२३०॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

आत्मसुखाच्या आवडीनें । जो विषया वितला मनें ।
महत्त्व इंद्रियांकारणें । जो न देतो केव्हांहि ॥२३१॥
ज्याच्या हृदयीं कसलीहि । इच्छा उत्पन्न होत नाही ।
प्रकृतीचें कर्तृत्व कांहीं । जो न घेतो आपणाकडे ॥२३२॥
जो श्रद्धेच्या संगतीनें । सुखी झाला पूर्णपणें ।
कोणत्याही संशयानें । स्पर्श न केला जयासी ॥२३३॥
हें ज्ञान तयासी हुडकित । येऊन भेटतें निश्चित ।
वास करी ज्या ज्ञानांत । सहजपणानें शांति ती ॥२३४॥
तें ज्ञान हृदीं होता स्थिर । शांतीस फुटती अंकुर ।
मग आत्मज्ञानाचा विस्तार । विपुलतेनें प्रगटतो ॥२३५॥
१९१ मग तो जिकडे पाहील । तिकडे एक शांति दिसेल ।
मर्यादा न कोणती उरेल । व्यापकतेसी शांतीच्या ॥२३६॥
ऐशापरी वरचेंवर । ज्ञानबीज पावें विस्तार ।
किती सांगावें तें अपार । म्हणोनि आतां राहू दे तें ॥२३७॥

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

: १४० :



या जगतीं ज्या मानवास । ज्ञानाचा न लाभे प्रकाश ।
काय म्हणावें त्याच्या जिण्यास । त्याच्याहून मरण बरें ॥२३८॥
ओसाड जैसें कां घर । वा प्राणांवाचून शरीर ।
तैसें मोहयुक्त खरोखर । जीवन ज्ञान-विहीनाचें ॥२३९॥
एकवेळ नसलें जरी ज्ञान । त्याची आस्था धरीं मन ।
तरी संभव असे पूर्ण । त्यासी ज्ञानप्राप्तीचा ॥२४०॥
अन्यथा ज्ञान मनीं नाही । वरी आस्थाहि नसे कांहीं ।
तरी निश्चित पडतो पाही । संशयरूपीं अग्निमधें ॥२४१॥
अरुचि ऐशी वाढते । की अमृतहि ना आवडतें ।
तरी त्याचें ओढवतें । मरण जेवीं निश्चयानें ॥२४२॥
तैसा विषयसुखांत रंगून । जो उपेक्षीतसें ज्ञान ।
त्यासी संशय घेरून । निश्चयानें टाकितानी ॥२४३॥
असा जो पडला संशयांत । त्याचा घात होतो निश्चित ।
इहपरलोक-सुखाप्रत । मुकावें लागतें तयासी ॥२४४॥
सन्निपात ज्वर जयासी । उष्ण शीत न कळे तयासी ।
सारखेंच वाटें मानसीं । आग आणि चांदणें त्या ॥२४५॥
२०१ तैसें खरें खोटें हिताहित । कर्म निषिद्ध किंवा विहित ।
हें न कांहीं ओळखूं येत । संशयग्रस्त मानवासी ॥२४६॥
जैसे पार्था जन्मांधास । न कळे रात्र वा दिवस ।
तसें संशयानें मनास । योग्य कांहीं न वाटतें ॥२४७॥
म्हणोनि संशयापेक्षां थोर । अन्य पातक नाहीं घोर ।
हा पसरला भूमीवर । पाश जीवा मारण्यासी ॥२४८॥

: १४१ :

म्हणोनि संशया टाकावें । आधीं त्यासीच जिंकावें ।
 अर्जुना याचें स्थान बरवें । असे ज्ञानाच्या अभावांत ॥२४९॥
 अज्ञान जेव्हां दाटतें । तेव्हां याची वाढ होते ।
 म्हणोनि वाट मोडते । विश्वासाची पूर्णपणें ॥२५०॥
 हा हृदयासी व्यापून । बुद्धिहि घेतो घेरून ।
 मग सर्वही लोक तीन । भरून जाती संशयानें ॥२५१॥

योगसंन्यस्त कर्माणं ज्ञानसंछिन्न संशयम् ।
 आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

ऐसा जरी हा वाढला । तरी त्यासी जिंकण्याला ।
 एक उपाय आहे भला । तो म्हणजे ज्ञानखड्ग ॥२५२॥
 ज्ञानाचें खड्ग येतां हातीं । त्याच्या तीक्ष्ण धारेपुढती ।
 संशयाचे होऊन जाती । तुकडे तुकडे निश्चयानें ॥२५३॥
 संशय संपता समूळ । मनांतले सर्व मळ ।
 निःशेष होऊन उज्वल । सहज होतें अंतरंग ॥२५४॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
 छिन्नं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

यास्तव अर्जुना मानसीं । असलेल्या या संशयासी ।
 वेगें नाशून प्रयत्नेंसी । युद्धासाठीं सज्ज व्हावें ॥२५५॥
 राजा ऐक ऐशापरी । ज्ञानदीप तो श्रीहरी ।
 ज्याच्यापासून भूमीवरी । ज्ञान सर्व प्रगट झालें ॥२५६॥
 तो जगदीश श्रीकृष्ण । परमकृपाळू होऊन ।
 अर्जुनास असें ज्ञान । सांगता झाला ते ठायीं ॥२५७॥

: १४२ :

२११ मागचें पुढचें बोलणें । कृष्णाचें हे अर्जुनांन ।
 मनीं आणून, मार्मिकपणें । प्रश्न कृष्णा विचारिला ॥२५८॥
 अनुक्रमानें तें वृत्त । सांगू पुढच्या अध्यायांत ।
 रस उत्कर्षा पावले जेथ । संपन्न होऊन भावानें ॥२५९॥
 ज्या शांताच्या गौरवें । आठही रस ओवाळावें ।
 जें विश्रांतिस्थान व्हावें । सज्जनांच्या बुद्धीचें ॥२६०॥
 तो शांत अभिनवपणें । प्रगटेल जेथ वैभवानें ।
 तो मी मराठी भाषेनें । सांगेन आपणा ऐका तें ॥२६१॥
 बोल मराठी प्राकृत । तरी असती अर्थभरीत ।
 ज्यापुढें सखोलपणांत । उथळ वाटे समुद्रहि ॥२६२॥
 सूर्यबिंब दिसतें सानें । विश्व उजळवीं प्रकाशानें ।
 शब्दांची व्यापकता त्याप्रमाणें । तुम्हां अनुभवा येईल ॥२६३॥
 जें जें कांहीं इच्छिलें । कल्पतरू दे तैसीं फळें ।
 शब्दांत तें सामर्थ्य भलें । म्हणून नीट लक्ष द्यावें ॥२६४॥
 असो काय सांगू आतां । तुम्हीं सहज सर्व जाणतां ।
 परी श्रवणांत ठेवा चित्ता । हीच माझी विनवणी ॥२६५॥
 मी जें करीन वर्णन । तें काव्यगुणांनीं परिपूर्ण ।
 असतां, तें न जाई त्यजून । शांतरसाची मर्यादा ॥२६६॥
 जेवी युवती कुलीन । असून लावण्यसंपन्न ।
 आपुलें घालवी जीवन । पातिव्रत्य धर्मानें ॥२६७॥
 मुळांत रुचते साखर । ती औषधा योजिल्यावर ।
 कां न तिचे वारंवार । सेवन करावें आनंदें ॥२६८॥

: १४३ :



परी हें कां अन्य कुणी । तुम्हां द्यावें समजावुनी ।
 तुम्हीं सगळें जाणतां मनीं । अनंता सर्वज्ञपणानें ॥ ५ ॥
 यास्तव आपणां मी मागुतें । महाराज विनविलें होतें ।
 कीं तुम्हीं या परमार्थातें । संदिग्धपणें सांगू नका ॥ ६ ॥
 असो सोडा मागील कथा । स्पष्टपणानें सांगा आतां ।
 या दोहोंमधील कोणता । मार्ग आहे चांगला तें ॥ ७ ॥
 ज्याचा परिणाम निर्मळ । निश्चयानें दे जो फळ ।
 आणि असे सहज सरळ । आचरणांत आणावया ॥ ८ ॥
 झोपमोड ना होऊं देतां । मार्ग पुष्कळ येई जातां ।
 अशा वाहनाची सुखदता । असावी त्या मार्गामधें ॥ ९ ॥
 अर्जुनाच्या या भाषणीं । कृष्ण प्रसन्न झाले मनीं ।
 आणि म्हणाले त्या, तोषुनीं । सांगतों तू म्हणशी तसें ॥ १० ॥
 पहा कामधेनूप्रमाणें । आई लाभली सुदैवानें ।
 तरी चंद्राचेंही खेळणें । प्राप्त होतें खेळावया ॥ ११ ॥
 ११ प्रसन्न भगवान शंकर । जाहले उपमन्युवर ।
 तरी तया क्षीरसागर । मिळाला दूधभातासी ॥ १२ ॥
 तैसें औदार्य-निधान कृष्ण । जाहला अर्जुनाच्या स्वाधीन ।
 सर्व सुखाचें आश्रयस्थान । मग न पार्थ होय केवीं ॥ १३ ॥
 आश्चर्य काय या स्थानीं । लक्ष्मीपति लाभे धनी ।
 आतां कां न घ्यावें मागुनी । त्यानें आपणा हवें तसें ॥ १४ ॥
 म्हणून जें म्हणें अर्जुन । तें प्रसन्न होऊन दे कृष्ण ।
 तेंच कृष्णाचें भाषण । सांगतो मी आतां तुम्हां ॥ १५ ॥

: १४६ :



श्रीभगवानुवाच ।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
 तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

म्हणती अर्जुना दोन्हीहि । संन्यास कर्मयोग पाही ।
 मार्ग असती मोक्षदायी । तत्त्व शोधितां विचारें ॥ १६ ॥
 सर्व जाणत्या नेणत्यातें । कर्मयोगांत सोपें जातें ।
 जैशी नदी ओलांडण्यातें । नाव बायका मुलासी ॥ १७ ॥
 सारासार पाहतां तसें । हाच सोपा सरळ दिसे ।
 यानें लाभतें अनायासें । फळ जें संन्यास-मार्गाचें ॥ १८ ॥
 यास्तव आतां लक्षण । तुज संन्यासाचें सांगेन ।
 ज्याने येईल कळून । तुज दोघांची अभिन्नता ॥ १९ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
 निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

जो गेल्याचे स्मरण न करी । लाभासाठीं हांव न धरी ।
 जो कीं मेरू पर्वतापरी । निश्चल राहे अंतरांत ॥ २० ॥
 ' मी, माझें ' हे भाव दोन्ही । उठती न कधीं ज्याच्या मनीं ।
 अर्जुना तूं त्यास जाणी । सदा संन्यासी म्हणून ॥ २१ ॥
 २१ ज्याच्या मनाची ऐशी स्थिति । त्यास उपाधी सोडिती ।
 म्हणून अक्षय सुखप्राप्ति । तया होते विनाश्रमें ॥ २२ ॥
 आतां गृहादिक या ठायां । सोडावें न लागतें तया ।
 कारण अनासक्ति हृदया । त्याच्या बाणली पूर्णपणें ॥ २३ ॥

: १४७ :

पहा आग विझून जाते । मग राखुंडी मागे उरते ।
ती उचलून घेतां येते । धरून कापसामध्येही ॥ २४ ॥
त्यापरी ज्याच्या बुद्धींत । संकल्पाची न उठे मात ।
तया असून उपाधींत । बंध न लागे कर्माचा ॥ २५ ॥
म्हणून होतो कल्पना-नाश । तयीं घडतसे हा संन्यास ।
यास्तव संन्यास वा योगास । दोघां सारखे लेखावे ॥ २६ ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यग्भयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

परी जे पुरते अज्ञानी । ते न जाणती नीटपर्णी ।
सांख्य-कर्म-योगां मनीं । कीं वैशिष्ट्य काय यांचे ॥ २७ ॥
ते अज्ञानी म्हणून । सहज यांना मानिती भिन्न ।
परी कां दोन दीपांतून । प्रकाश पडे वेगळाला ॥ २८ ॥
यांतील कोणताही ज्यांनीं । एक आचरिला निष्ठेनी ।
आणि त्या अनुभवबळानीं । दर्शन घेतलें तत्त्वांचें ॥ २९ ॥
ते सांख्ययोग कर्मयोग । हे दोन्हीहि विभाग ।
भिन्न न पाहतां एक अंग । ऐक्यभावानें मानिती ॥ ३० ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

आणि सांख्य जें मिळविती । कर्मयोगानें त्याची प्राप्ति ।
होते सहज म्हणून येती । ऐक्यासी हे मार्ग दोन्ही ॥ ३१ ॥
आकाश आणि अवकाश । यांत भेदाचा नसे लेश ।
तैसें कर्मयोग वा संन्यास । एकरूप जाणतो जो ॥ ३२ ॥

: १४८ :

३१ त्यासीच जर्गीं उजाडलें । आत्मस्वरूप त्यासी दिसलें ।
भेदाविण लक्षांत आले । सांख्य योग दोन्हीं जया ॥ ३३ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

साधून निष्काम कर्मयोग । जो मोक्षाचा पर्वत उत्तुंग ।
क्रमानें चढतो सवेग । परमानंद लाभे तया ॥ ३४ ॥
परी न घडें ज्याकडून । कर्मयोगाचें अनुष्ठान ।
स्वधर्मा जो विसरून । व्यर्थ भलती हांव धरी ॥ ३५ ॥
तरी त्यासी कांहींहि । लाभ अर्जुना होत नाहीं ।
संन्यासाची कधीं न होई । प्राप्ति तया कर्मनष्टा ॥ ३६ ॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

ज्यानें काढून भ्रमांतून । गुरुबोधानें धुतलें मन ।
आणि तयास केले लीन । आत्मस्वरूपामधें ज्यानें ॥ ३७ ॥
मीठ न पडें समुद्रांत । तोंवर अल्प मर्यादित ।
परी सागरीं पडता होत । सहज त्याच्या एवढें तें ॥ ३८ ॥
तैसे संकल्प टाकिलेलें । मन ज्याचें चिद्रूप झालें ।
तरी अल्पत्व त्याचें गेले । मन तें व्यापी लोकां तिन्हीं ॥ ३९ ॥
आतां कर्ता, कर्म करावें । हें सरलें त्याचें स्वभावं ।
आणि अकर्ता त्या जाणावें । जरी तो करीं सर्व कर्म ॥ ४० ॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्ननाच्छन्वपञ्चसन् ॥ ८ ॥

: १४९ :

प्रलपन्विसृजनगुह्यनुमिषन्निमिषन्नपि ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

धनंजया ज्याच्याठायीं । मी देह हा भाव नाही ।
 आतां उरेल सांग कायी । त्याच्याजवळीं कर्तेपणा ॥ ४१ ॥
 ऐसे देहत्यागाविण । अव्यक्त परमात्म्याचे गुण ।
 दिसून येती संपूर्ण । निष्काम कर्म योग्याठायीं ॥ ४२ ॥
 एरवीं इतर लोकांपरी । तोही दिसे शरीरधारी ।
 सर्वप्रकारें व्यवहारी । दिसून येतो वागतांना ॥ ४३ ॥
 ४१ तोहि डोळ्यांनीं पाहतो । तोहि कानांनीं ऐकतो ।
 परंतु ना लिस होतो । त्यामधें, हें नवल असें ॥ ४४ ॥
 तोही जाणतो स्पर्शासी । हुंगतो कीं सुगंधासी ।
 जें जें ज्या ज्या समयासी । बोलणें योग्य, बोलतो तें ॥ ४५ ॥
 योग्यरीतीं आहार घेई । टाळावें तें टाकून देई ।
 सुखानें घेतो झोपहि । उचित झोपणें ज्यावेळीं ॥ ४६ ॥
 आपुल्या इच्छेप्रमाणें । तोहि चालतो मार्गानें ।
 अशीं सर्वहीं आचरणें । कर्माचीं दिसतीं त्यापाशीं ॥ ४७ ॥
 हें एकेक सांगू किती । त्याचे श्वासोच्छ्वास चालती ।
 डोळें मिटती उघडती । ऐशीं सहज देहकर्म ॥ ४८ ॥
 अर्जुना पहा त्याचेठायीं । हें सर्वहि जरी राही ।
 परी तो कर्ता नव्हे कांहीं । आत्मानुभवाच्या शक्तीनें ॥ ४९ ॥
 भ्रांतीरूप शय्येवर । स्वप्नसुखें घेरितीं फार ।
 परी तो आतां जागृतीवर । आला ज्ञानाच्या उदयानें ॥ ५० ॥

: १५० :

ब्रह्मण्याथाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

अशा त्या ज्ञानी पुरुषाचे । सर्व व्यापार इंद्रियांचे ।
 चालती सत्तेनें आत्म्याचे । तो केवळ तेथ साक्षी ॥ ५१ ॥
 जैसे दिव्याच्या प्रकाशांत । व्यवहार घडती घरांत ।
 तैशीं सर्व कर्म होतात । कर्म योग्याच्या देहामध्ये ॥ ५२ ॥
 तो सकल कर्म करीं । कर्मबंध न लागे परी ।
 जैसें असून जलांतरी । भिजे ना पान कमळाचें ॥ ५३ ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥

५१ बुद्धींत नसते जाणीव । मनीं न ये विचार लव ।
 ऐसें कर्म घडे जंव । तें मानावें शरीराचें ॥ ५४ ॥
 हेंच सोप्या शब्दांत । ऐक सांगतो तुजप्रत ।
 अर्भकाची जशी होत- । असते पहा हालचाल ॥ ५५ ॥
 कर्मयोगी तैशापरी । सहजभावे कर्म करी ।
 अहेतुकपणें निर्धारी । केवळ निज शरीरानें ॥ ५६ ॥
 पंचभूतांनीं घडलेला । जेव्हां देह असे झोपला ।
 एकटें मन त्यावेळेला । व्यापार करी स्वप्नापरी ॥ ५७ ॥
 आश्चर्य पहा हें अर्जुना । कशा पसरल्या वासना ।
 देहा न आणितां जागेपणा । सुखःदुखांना भोगविती ॥ ५८ ॥
 न कळतां इंद्रियांप्रति । हे असे जे व्यापार होती ।
 त्यांना केवळ जाणिती । कर्म मनाचें म्हणून ॥ ५९ ॥

: १५१ :



योगी तेंही आचरिति । परी त्यानें न बद्ध होती ।
कारण त्यांनीं संगति । सोडिली अहंभावाची ॥ ६० ॥
आतां पिशाच्चानें पीडित । वा झाल्यासी भ्रांत-चित्त ।
मग केवळ अस्ताव्यस्त । व्यापार करितीं इंद्रियें ॥ ६१ ॥
डोळ्यांनीं तरी पाहती । हांक मारितां ऐकिते ।
शब्द मुखानीं बोलती । परी जाणीव त्याची नसे ॥ ६२ ॥
हें असो, उद्देशावीण । जें जें घडतें आचरण ।
तें केवळ कर्म जाण । इंद्रियांचें अर्जुना तूं ॥ ६३ ॥
श्रीकृष्ण म्हणती अर्जुनातें । ' जाणण्याचें कार्य ' घडतें ।
सगळीकडे जें तयातें । जाणावें कर्म बुद्धीचें ॥ ६४ ॥
६१ मानून बुद्धीचें नेतेपण । कर्म करितीं मनापासून ।
ते मुक्त दिसती तयाहून । लाभली ज्या निष्कर्मता ॥ ६५ ॥
कारण बुद्धीपून देहावरी । ते न गुंतती अहंकारी ।
म्हणून कर्म केलीं तरी । अत्यंत शुद्ध होती ते ॥ ६६ ॥
पार्था अहंकाराविण । जें कर्म घडें हातून ।
तेंच आहे परिपूर्ण । निष्कर्म ऐसें जाणावें ॥ ६७ ॥
या स्थितीचें वर्म जें तें । गुरुकृपेनें कळून येतें ।
पूर्णपणानें तयातें । जाणती ते योगीजन ॥ ६८ ॥
आतां शांतरसाचा पूर । पात्र सोडून उसळे वर ।
बोलण्याच्या जें असे पार । बोल बोलतां आले तें ॥ ६९ ॥
पूर्णपणें इंद्रियें सगळीं । ज्यांच्या स्वाधीन जाहलीं ।
केवळ त्यांना प्राप्त झाली । हें ऐकण्याची योग्यता ॥ ७० ॥

: १५२ :



संत म्हणाले त्यावर । पुरें हें विषयांतर ।
सोड न कथेचा आधार । भंगेल संगति श्लोकांची ॥ ७१ ॥
जें आकळणें कठीण मना ! । लाभें न बुद्धीच्या श्रमांना ।
तें सद्भाग्यानें पहा ना । तुजसी आलें सांगता ॥ ७२ ॥
जें स्वभावतः शब्दातीत । तें सांपडलें बोलण्यात ।
आतां न गुंतावे आणिकांत । कृष्णार्जुन संवाद सांगे ॥ ७३ ॥
श्रोत्यांची उत्कंठा ही अति । जाणोनि निवृत्तिदास म्हणती ।
त्या दोघांचा संवाद पुढती । पुन्हां ऐका सांगतो मी ॥ ७४ ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥
मग अर्जुना म्हणे श्रीकृष्ण । कृतार्थ पुरुषाचें लक्षण ।
आतां तुज मी सांगेन । नीटपणानें लक्ष देई ॥ ७५ ॥
७१ जो आत्मज्ञानें संपन्न होतो । जो कर्माच्या फळा विटतो ।
त्यास शांतीचा लाभ होतो । बसल्याठायीं घरामधें ॥ ७६ ॥
इतर कर्माच्या बंधनानें । अभिलाषेच्या दाव्यानें ।
फळभोगाच्या खुंट्याकारणें । बांधून असतो ठेविलेला ॥ ७७ ॥
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥
परी जो असतो ज्ञानी । तो कर्म करी नीटपणीं ।
जेवी फळाची आशा धरोनि । संसारी नर करी कर्म ॥ ७८ ॥
तैशीं कर्म करी सारी । परी वागे न केल्यापरी ।
उदासीन राही अंतरी । न घे, फळ कर्तेपण ॥ ७९ ॥

: १५३ :

मग तो जिकडे पाहतो । तिकडे सुखवर्षाव होतो ।
तो म्हणेल तेथें नांदतो । येऊनिया आत्मबोध ॥ ८० ॥
नऊ द्वारांचें हें शरीर । त्यांतही तो निर्विकार ।
आशा नसल्यानें फळावर । त्याचें कर्म न केल्यापरी ॥ ८१ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

वस्तुतः पाहता सर्वेश्वर । जैसा कीं असे निर्व्यापार ।
परी त्याच्याचमुळें विस्तार । निर्माण होतो त्रिभुवनाचा ॥ ८२ ॥
त्यास कर्ता जरी म्हणती । तरी कर्म न स्पर्शें तयाप्रति ।
तयाची ती उदास वृत्ति । बिघडते ना यत्किंचित ॥ ८३ ॥
त्याची न भंगे निर्विकल्पता । तेवी न मोडे अकर्तृता ।
परी सर्वहि महाभूता । उभारी तो समूहानें ॥ ८४ ॥
जगाच्या जीवीं असूनहि । तो कधीं कोणाचा होत नाही ।
जग जन्मतें नष्ट होई । परी पत्ता नसे तया ॥ ८५ ॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

जीवांचीं पापपुण्यें सकळ । न पाहतो असून जवळ ।
साक्षीही न होतो केवळ । मग काय इतर गोष्टी ! ॥ ८६ ॥
जरी नामरूपाच्या स्वरूपांत । सगुणपणें राही खेळत ।
तरीहि न कधीं भ्रष्ट होत । निर्गुणता त्या समर्थाची ॥ ८७ ॥
हाच करीतसे विश्वोत्पत्ति । त्याचें रक्षण वा लय अंतीं ।
असे सर्व लोक बोलती । परी केवळ अज्ञान तें ॥ ८८ ॥

: १५४ :

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

निःशेष होतां ते अज्ञान । भ्रांतीही जाते मावळून ।
ईश्वराचें अकर्तेपण । मग येतें लक्षामधें ॥ ८९ ॥
अकर्ता आहे ईश्वर । हा विश्वास झाल्यावर ।
तोच मी हा निर्धार । सहज होतो चित्ताचा ॥ ९० ॥
ऐसा विवेक येतां चित्तांत । भेद न उरे त्रिलोकांत ।
तो ' सर्व हें जगचि मुक्त ' । असे पाही अनुभवानें ॥ ९१ ॥
जैसें पूर्व दिशेच्या मंदिरीं । सूर्यराज ये उदयावरी ।
तेव्हां अन्य दिशांचा तरी । अंधार सहज संपतो ॥ ९२ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

बुद्धीचा निश्चय होऊन । जाहल्यामुळें आत्मज्ञान ।
तो सर्वकाळीं परिपूर्ण । आपणा मानी ब्रह्मरूप ॥ ९३ ॥
ब्रह्माकार ठेवून वृत्ति । ब्रह्मनिष्ठा बाणवी चित्तीं ।
आणि अखंड दिवसराती । तन्मयतेनें तेथ राही ॥ ९४ ॥
ऐसें व्यापक ज्ञान भलें । ज्याच्या मना शोधीत आलें ।
आतां सांगाया कां उरलें । कीं त्या लाभे समदृष्टि ॥ ९५ ॥
ते आपणां ब्रह्म पाहती । तसेंच विश्वाहि देखिती ।
अर्जुना यांत कोणती । गोष्ट आहे नवलाची ॥ ९६ ॥
सुदैव जैसें कधींहि । दारिद्र्यासी पाहत नाहीं ।
वा न जेवीं ओळख होई । कधीं विवेका भ्रांतीची ॥ ९७ ॥

: १५५ :

८१ वा अंधाराची कल्पना । सूर्य करूं न शके स्वप्ना ।
किंवा अमृताचिया काना । वार्ताहि नसे मृत्यूची ॥ १८ ॥
वा उष्णता असे कशी । हे न ठावुके चंद्रम्यासी ।
तेवीं लवही भेदासी । ज्ञानी न पाही भूतामधें ॥ १९ ॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्रपाके च पण्डिताः समदर्शिनाः ॥१८॥

मग हें चिलट वा हा गज । हा तो चांडाळ वा हा द्विज ।
हें परकें, हा आत्मज । भेद ऐसा उरेल कां ? ॥१००॥
ही गाय पवित्र, हा श्वान । हा श्रेष्ठ पुरुष, हा हीन ।
हें त्यास उरें कोटून । जागृतासी स्वप्न जेवीं ॥१०१॥
अहंकार असतां कांहीं । भिन्नतेची प्रचीति येई ।
तो ज्याजवळीं आधीच नाहीं । तेथें कुठला भेदभाव ॥१०२॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

सर्वकाळीं सर्वठायीं । सारखेपणीं भरून राही ।
द्वैत जेथें नुरतें कांहीं । असे अद्वैत ब्रह्म जें ॥१०३॥
तेंच मी आहे निश्चयानें । हें समदृष्टीचें तत्त्व ज्यानें ।
जाणून घेतलें पूर्णपणें । आपुल्याठायीं मर्मासह ॥१०४॥
विषय-संगति टाकितां न । करितां न इंद्रियपीडन ।
परंतु निष्काम राहून । ज्यांनीं भोगिली अलिप्तता ॥१०५॥
अनुसरून लोकरीति । जे लोकामधें वागती ।
परी लोकासम ज्यांचें चित्तीं । अज्ञानासी स्थान नसें ॥१०६॥

: १५६ :

जैसी असून पिशाच्च योनि । लोकां न येते दिसोनि ।
देहधारी तैसा ज्ञानी । जना न येतो ओळखाया ॥१०७॥
वारा वाहूं लागल्यावरी । पाणी खेळतें पाण्यावरी ।
तरंगरूपें त्यास परी । भिन्न मानिती लोक जसें ॥१०८॥
१०१ तैसें सर्वत्र ज्याचें मन । समभावना धरीं पूर्ण ।
नामरूपें असून भिन्न । ब्रह्म जाणें प्रत्यक्ष तो ॥१०९॥
ऐशीं समदृष्टि सर्वांशीं । लाभते ज्या पुरुषासी ।
त्याचें लक्षण आतां तुशीं । संक्षेपानें सांगतों मी ॥११०॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।

स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

जैसें मृगजळाच्या प्रवाहांत । वाहात न जाई पर्वत ।
तैसें न विकार पावें चित्त । त्याचें शुभ वा अशुभानें ॥१११॥
तोच विचारें पाहतां । समदृष्टि जाणें तत्त्वतां ।
आणि जाणावा पंडुसुता । तोच एक ब्रह्म स्वयें ॥११२॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्रुते ॥ २१ ॥

सोडून आत्मस्वरूपाप्रति । जो न घेई इंद्रियवृत्ति ।
तरी नवलाई कोणती । तो न सेवी विषया ही ॥११३॥
सहज अपार सुखांत । आत्म्याच्या जो झाला तृप्त ।
तेथ रमून ना पाहत । बाह्यविषयाकडे कधीं ॥११४॥
जो चंद्रविकासी कमलांत । चांदणें भक्षी सदोदित ।
तो चकोर काय चाटीत । बसे कधीं गारगोट्या ? ॥११५॥

: १५७ :

तैसें आत्मसुख विकसित । जया स्वतःपाशीं झालें प्राप्त ।
त्याचे विषय सहज सुटतात । हें का हवें सांगाया ॥११६॥
एरवीं जरा कौतुकांनीं । पहा विचार करोनि ।
कीं या विषयाच्या सुखांनीं । कोण फसलें जातें तरी ॥११७॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

ज्यांनीं आत्मस्वरूप ना पाहिलें । तेच विषयीं रमती भले ।
जेवी भिकारी हपापले । बरें म्हणून कोंडा खाती ॥११८॥
१११ किंवा तान्हेलें हरीण । खरें पाणी विसरून ।
मृगजळासी भुलून । माळाकडे धांव घेते ॥११९॥
तसें न आत्मदर्शन ज्यातें । आत्मसुख न ये अनुभवातें ।
तेच पहा या विषयातें । सुखदायी मानिताती ॥१२०॥
एरवीं विषयीं सुख आहे । हें बोलणेंहि योग्य नोहे ।
उजाडलें कां म्हणतां ये । नभीं विजा चमकल्यानें ॥१२१॥
जरी ऊन वारा पावसांत । रक्षण ढगाच्या सावलींत ।
तरी कां बांधावे लागतात । वाडे उंच तीन तळीं ॥१२२॥
म्हणून सुख म्हणती विषयांत । ते अज्ञानें बडबडतात ।
बचनागाच्या कंदाप्रत । गोड म्हणावें तैसेंच हें ॥१२३॥
जेवीं ग्रहाचें नांव मंगळ । मृगजळासी म्हणती जल ।
तैसेंच सुख म्हणणें बाष्कळ । आसक्तीसी विषयाच्या ॥१२४॥
पुरें बोलणीं हीं सगळीं । नागाच्या फण्याची साउली ।
सांग काय सुखद झाली । कधीं तरी उंदरासी ? ॥१२५॥

: १५८ :

बरें, गळा लाविलें आमिष । मासा जोंवर न गिळी त्यास ।
तैसेंच विषयाच्या संगतीस । मानावें कीं निश्चयानें ॥१२६॥
विरक्त पुरुषाच्या दृष्टीनें । पाहतां विषयांकारणें ।
ते-दिसती पांडुरोगानें । पुष्टता यावी जशी-तसे ॥१२७॥
म्हणून विषयांमधे सुख । ते आद्यंतीं समज दुःख ।
परी तयांना वेडे लोक । भोगल्याविणें राहती ना ॥१२८॥
१२१ विषयाचें स्वरूप सत्य । ते बापुडे न जाणतात ।
म्हणून भोगीत राहतात । अगतिकतेनें विषयासी ॥१२९॥
घाण पुवाच्या चिखलांत । किडे सुखानें वळवळतात ।
त्या निज परिस्थितींत । किळस काय वाटे तया ॥१३०॥
विषयासक्तीनें दुःखी जन । दुःखचि मानिती जीवन ।
राहती बेडुक होऊन । विषयरूपीं चिखलामधें ॥१३१॥
मासे न जला सोडिती । जला सोडितां मरून जाती ।
त्यापरीच होते स्थिति । विषयासक्त पुरुषांची ॥१३२॥
योनी ज्या दुःखदायक । त्या न व्हाव्या निरर्थक ।
म्हणून विषयभोगा लोक । विटती ना वाटते असे ॥१३३॥
ध्यावें गर्भवासाचें संकट । जन्ममृत्यूचे भोगावे कष्ट ।
न थांबता ही चालेल वाट । कोण तरी त्यांच्याविणें ॥१३४॥
विषय टाकितां आसक्तांनीं । कोठें रहावें पातकांनीं ।
संसार हा शब्द जनीं । खोटा न काय ठरेल ॥१३५॥
म्हणोनि माया मिथ्या जरी । तिला यांनींच केली खरी ।
ज्यांनीं विषयाचीं दुःखें पुरीं । घेतलीं सुखाच्या बुद्धीनें ॥१३६॥

: १५९ :

विचार करून पाहतां । दिसे विषयाची दुष्टता ।
यास्तव तूं तिकडे चित्ता । जाऊं न देई चुकूनहि ॥१३७॥
या विषयासी ' विरक्त ' । विष मानून टाकितात ।
सुखरूपी दुःखाप्रत । भुलती ना निरिच्छ ते ॥१३८॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्धवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

आत्मज्ञान्याजवळ पाही । या विषयाची वार्ताच नाही ।
स्वाधीन ठेविल्या ज्यांनीं देहीं । कामादिक सर्व वृत्ति ॥१३९॥
जयांनी भोगिली अंतरीं । ती आत्मसुखाची माधुरी ।
ते बाह्य विषयांची खरी । मुळीं न जाणती भाषाही ॥१४०॥
१३१ फळापासून वेगळा । पक्षी जेवीं खातो फळा ।
तसें न हे, भोक्तेपणाला - । यथे विसरलें पाहिजे ॥१४१॥
आत्मसुख भोगितां, वृत्तींत । अशी एक अवस्था येत ।
दूर होतो ज्या स्थितींत । पडदा अहंकाराचा ॥१४२॥
मग सर्व भावानिशीं । जीव झोंबे त्या सुखाशीं ।
विसरूनिया भिन्नतेसी । गाढ देई आलिंगन ॥१४३॥
कवळी आपणा आपण । हें या मिठीचें लक्षण ।
पाण्यांत पाणी मिसळून । वेगळें ना दिसें जेवीं ॥१४४॥
वायू विरतां आकाशांत । भाषेंतही नुरें द्वैत ।
तसेंच या सुखभोगांत । आत्मरूप होतें सुख ॥१४५॥
अशी द्वैताची भाषा सरतां । जरी म्हणो झाली एकता ।
तरी तें ठायीं कोण ज्ञाता । साक्षी म्हणून उरतो कां ? ॥१४६॥

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

असो, जें न बोलतां यावें । तें कां बोलून दाखवावें ।
हें मर्म जाणती स्वभावें । जे असती ब्रह्मनिष्ठ ॥१४७॥
असा भोगून आत्मानंद । जे आपसांत झाले धुंद ।
ते मी मानीतसे संबंध । -पुतळे ब्रह्मैक्यभावाचे ॥१४८॥
ते आनंदाची प्रतिकृति । जणूं सुखाचे अंकुर फुटती ।
वा विहार करण्याप्रति । मंदीर आत्मबोधाचें ॥१४९॥
ते विवेकाचें वसतिस्थान । परब्रह्माचे स्वभाव जाण ।
वा ब्रह्मविद्या बसे नटून । शृंगारूनी निजदेहा ॥१५०॥
ते सत्त्वाची सात्विकता । ते चैतन्याची आत्मसत्ता ।
ऐसें वर्णन करूं जातां । निवृत्तिनाथ म्हणती कीं ॥१५१॥
१४१ अरे एकेक ऐशापरी । वर्णन करिशी कोठवरी ।
संतांच्या स्तवनाभीतरीं । तन्मय होऊन जाशीं तूं ॥१५२॥
मग तुजसी नुरे भान । कथेचें होतें विस्मरण ।
बोलसी विषयासी सोडून । जरी रसाळ असतें तें ॥१५३॥
परी तें रसाळ वर्णन । आतां घ्यावें आवरून ।
येथें ग्रंथार्थाचे लावून । दीप तेवढे ठेवावें ॥१५४॥
संतांच्या हृदयमंदिरीं । अर्थबोधाची उषा करी ।
जी मंगल सर्वतोपरी । शोभते आत्मप्रकाशानें ॥१५५॥
ऐसा सद्गुरूचा आदेश । मिळाला ज्ञानेश्वरांस ।
मग ते म्हणती श्रोतयांस । कृष्ण बोलला तें ऐका ॥१५६॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥१५॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥१६॥

पार्था अनंत सुखाच्या डोहांत । ते पोंचले तळापर्यंत ।
आणि स्थिरता पावून तेथ । तन्मय झाले पूर्णपणे ॥१५७॥
अथवा शुद्ध आत्मज्ञाने । जो आपणा विश्व जाणें ।
तरी मानावें त्या, सुखानें । देही असुनी परब्रह्म ॥१५८॥
परब्रह्म ज्या म्हणती । ती नसे सामान्य स्थिति ।
खरोखरी श्रेष्ठ अति । सीमाविहीन अव्यय तें ॥१५९॥
पूर्ण निष्काम ज्यांची वृत्ति । तेच तेथें प्राप्त होती ।
थोर ऋषि जे सन्मति । तेच घेऊं शकती त्या ॥१६०॥
जे असती वैराग्ययुक्त । त्यांनाच तें प्राप्त होत ।
संशयहीन ज्यांचें चित्त । तेच भोगू शकती त्या ॥१६१॥
ज्यांनीं विषयांपासून । चित्त घेतलें हिरावून ।
आणि आपुल्या स्वाधीन । केलें जिंकून तयासी ॥१६२॥
ते त्या परब्रह्माठायीं । एकदां लीन झाल्या पाही ।
पुन्हां पार्था ते कधींहि । वृत्तीवरी येतात ना ॥१६३॥
जे कीं आत्मज्ञान्यांचें । मोक्षरूप ध्येय साचें ।
ऐशा त्या परब्रह्माचे । स्वरूप होती पुरुष ते ॥१६४॥
यापरी हें कसें घडतें । कीं देहीं ब्रह्मत्व लाभतें ।
हें विचारिसी तरी तूतें । सांगतो तें थोडक्यांत ॥१६५॥

: १६२ :

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

१५१ वैराग्याच्या आधारावर । विषया करिती तडीपार ।
आणि देहीं मन एकाग्र । करिती सर्व वृत्तींसह ॥१६६॥
मग इडा पिंगला सुषुम्ना । या नाड्यांच्या संगमस्थाना ।
जेथ भिंवया एकमेकींना । येऊनिया भेटती ॥१६७॥
तेथेंच भ्रूमध्यावर । निजदृष्टि करून स्थिर ।
प्रयत्नानें योगीवर । अंतर्मुख करिती तिला ॥१६८॥
नाकपुडी डावी उजवी । ख्यात इडा पिंगला नांवी ।
तेथें वायूची गती व्हावी । ती ते घेती रोधुनी ॥१६९॥
मग कुंभका साधिती । प्राणापाना एकवटती ।
आणि त्यासह चित्ताप्रति । करिती आकाशसंचारी ॥१७०॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

जैसे जल सर्व रस्त्यांतलें । घेऊन गंगा सागरीं मिळे ।
मग एकएका वेगळें । येत नाहीं निवडावया ॥१७१॥
तैशा निरनिराळ्या वासना । लोप पावती अर्जुना ।
वायु ज्या समयीं मना । विलीन करितो आकाशीं ॥१७२॥
ज्या मनाच्या पडद्यावर । संसारचित्र घें आकार ।
तें मन लीन झाल्यावर । संसार न ये प्रत्यया ॥१७३॥
जैसे पाणी आटल्यावर । कोरडें होते सरोवर ।
आतां तेथें खरोखर । प्रतिबिंब पडेल कां ? ॥१७४॥

: १६३ :

मनाचें मनपण संपतां । कोठे राहिल अहंता ।
म्हणोनि तो देहीं असतां । ब्रह्म होतो अनुभवानें ॥१७५॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥१२९॥

आम्हीं जे कथिलें मागुती । कीं शरीरांत ब्रह्म होती ।
तयांना ती लाभते स्थिति । या सांगितल्या मार्गानें ॥१७६॥
यमनियमांचे डोंगर । अभ्यासाचे सागर थोर ।
ओलांडून ते झाले पार । मग पावले ब्रह्मत्वा ॥१७७॥
शुद्ध करून आपणासी । ओळखिलें या प्रपंचासी ।
मग शाश्वत ब्रह्मासी । तद्रूप होऊन राहिले ॥१७८॥
१६१ योगमार्गाचें रहस्य ऐसें । तेथें कथिलें हृषीकेशें ।
सुज्ञ पार्थ तेणें मानसें । आश्चर्यानें चकित झाला ॥१७९॥
तें जाणिलें कृष्णानें । मग हांसोनि पार्था म्हणे ।
काय आमुच्या बोलण्यानें । चित्त उत्सुक झालें तुझें ॥१८०॥
तरीं पार्थ म्हणे प्रेमांनीं । श्रीकृष्णा तूं अंतर्ज्ञानी ।
जाणिलासी पूर्णपणीं । भाव माझ्या चित्तांतला ॥१८१॥
मी जें विचारण्या योजिलें । तें तुम्ही आधींच जाणिलें ।
तरी आतां जें सांगितलें । तेंच करावें स्पष्ट पुन्हां ॥१८२॥
नदी पोहून करणें पार । त्याहून सोपा पायउतार ।
तैसा सुलभ वाटे साचार । दाखविलेला मार्ग तुम्हीं ॥१८३॥
ज्ञानमार्गाहुनी येथें । सुलभता आहे वाटते ।
मजसारिख्या अशक्तातें । जरी वेळानें यश लाभें ॥१८४॥

: १६४ :

परी वेळानें यश लाभेल । हाही विश्वास पुष्कळ ।
तो विलंब सोसवेल । निश्चितीनें सिद्धीच्या ॥१८५॥
आतां श्रीहरि ! म्हणोनि । पुन्हां करावी उजळणी ।
जरी सांगवें विस्तारांनी । तरी सांगोपांग सांगा ॥१८६॥
तेव्हां कृष्ण ' हो कां ' म्हणती । मार्ग हा रुचे तुजप्रति ।
तरी आम्हांसी काय क्षति । ऐक सांगतों आनंदे ॥१८७॥
अर्जुना तूं ऐकितोसी । ऐकून वर्तनीं आणिसी ।
तरी येथे सांगण्यासी । काय संकोच आम्हांते ॥१८८॥
देव आधींच वत्सल । त्यांत भेटला प्रेमळ ।
आतां कुणा वर्णवेल । अद्भुतता त्या प्रेमाची ॥१८९॥
१७१ श्रीकृष्णाची कृपादृष्टि । करी कारुण्याची वृष्टि ।
किंवा झाली नवी सृष्टि । तेथें वात्सल्य-प्रेमाची ॥१९०॥
हें कांहीच उमजें न । न ये कराया वर्णन ।
काय अमृतापासून । दृष्टि निर्माण झाली ती ॥१९१॥
वा अर्जुनाच्या प्रेमासी । पिओनि धुंदी चढली तिशीं ।
म्हणून मोहानें अर्जुनासी । सोडून जाणें जाणते ना ॥१९२॥
असो जो बोलणें वाढतें । तो तो कथा दुरावते ।
तरीहि त्या वात्सल्यातें । यथार्थतेनें वर्णवेना ॥१९३॥
यांत नवल कांहीं नसें । ईश्वर कोणा कळतसे ।
जो स्वतः ना जाणतसे । स्वयें आपुलें मोठेंपण ॥१९४॥
परी वरी भगवंतांनीं । म्हटलें आशय जाणुनी ।
बळेंच अर्जुनालागुनी । ' अरे बाबा ! ऐक ' असें ॥१९५॥

: १६५ :

त्यायोगें वाटलें मला । कीं अर्जुनाच्या प्रेमाला ।
 श्रीकृष्ण हा मोहित झाला । म्हणोनि सांगे आग्रहानें ॥१९६॥
 अर्जुना ज्या प्रकारांनीं । बोध होई तुझ्या मनीं ।
 त्यारीतीनें कौतुकांनीं । सर्व सांगेन आतां तुला ॥१९७॥
 कशास म्हणती तरी योग । तयाचा काय उपयोग ।
 वा आचरायाप्रति सांग । अधिकार तेथें कोणाचा ॥१९८॥
 ऐसें जें जें सर्व कांहीं । शास्त्रांतरीं कथिलें पाही ।
 तें मी तुजसी ये ठायीं । आतां सांगेन विस्तारें ॥१९९॥
 तूं ऐकावें देऊन चित्त । ऐसें म्हणाले भगवंत ।
 आणि मग जें कथिलें वृत्त । षष्ठाध्यायीं गोविलें तें ॥२००॥
 अर्जुनाविषयींच्या सख्यांत । बाध न आणितां किंचित ।
 अष्टांगयोगाचें समस्त । वर्णन करील श्रीकृष्ण ॥२०१॥
 तें मी आतां आपणापुढती । सांगेन कीं स्पष्ट रीति ।
 ऐसें श्रीज्ञानदेव म्हणती । शिष्य निवृत्तिनाथांचें ॥२०२॥



: १६६ :

॥ श्रीशंकर ॥

अनुवाद ज्ञानेश्वरी

३८०१२११३८३३स्वस्ति

अध्याय सहावा

श्रीगणेशाय नमः ।

१ मग धृतराष्ट्र म्हणें संजय । ऐका तुम्ही हा अभिप्राय ।
 योगरूप जो सांगता होय । अर्जुनाप्रति श्रीकृष्ण ॥ १ ॥
 ब्रह्मरसाचें मिष्ट भोजन । अर्जुनास देई नारायण ।
 तेवेळीं पाहुणे म्हणून । आम्ही पोचलों ते ठायीं ॥ २ ॥
 कैसी देवाची थोरवी । कुणी तान्हेला जल सेवी ।
 परी तयाची घेतां चवी । तें तों अमृत निघालें ॥ ३ ॥
 तैसें मज तुम्हां आतां झालें । तत्त्वज्ञान अचानक भलें ।
 कल्पना नसतां लाभलें । ये ठायीं हे अत्युत्तम ॥ ४ ॥
 तेव्हां धृतराष्ट्र म्हणाला । कां बोलसी व्यर्थ बोला ।
 आम्ही तें कांहीं तुजला । विचारलेलें नव्हतें कीं ॥ ५ ॥

: १६७ :



राजाच्या या बोलण्याने । त्याचें मन जाणिलें संजयानें ।
 म्हणे पुत्रांच्या प्रेमानें । घेरलें आहे चित्त याचें ॥ ६ ॥
 मनी हांसून संजय म्हणें । म्हातारा बिघडला मोहानें ।
 कृष्णार्जुनांचें हें बोलणें । एरवीं आहे उत्कृष्ट ॥ ७ ॥
 परी तें कैसें रुचेल यासी । उजाडेल कां जन्मांधासी ।
 तरी उघड संजयासी । बोलवेना भयानें हें ॥ ८ ॥
 परंतु तो निजचित्तांत । संतुष्ट जाहला अत्यंत ।
 कारण त्यासी झाला प्राप्त । संवाद कृष्ण-अर्जुनांचा ॥ ९ ॥
 त्या संवादाच्या श्रवणानें । तृप्त झाला आनंदानें ।
 भाषणानुरोधे आदरानें । सांगू लागला धृतराष्ट्रां ॥ १० ॥
 अध्याय सहावा गीतेचा । आहे अत्यंत महत्त्वाचा ।
 जैसा लाभ अमृताचा । झाला क्षीरसमुद्रांतुनी ॥ ११ ॥
 ११ मंथनें काढिलें अमृत । तसा गीतार्थ हा सारभूत ।
 वा हा पैलतीर शोभत । विवेकरूपी सागराचें ॥ १२ ॥
 वा योगाच्या ऐश्वर्याचें । उघडलें हें कोठार साचें ।
 कुणीही निज उन्नतीचें । साधन येथें मिळवावें ॥ १३ ॥
 आदिशक्ति जयाठार्या । विश्रांतीसि येऊन राही ।
 शब्दब्रह्म वेदासीही । मौन घ्यावें लागें जिथें ॥ १४ ॥
 ज्या निर्विकल्प स्थितींत । राहून बीज-भावांत ।
 पुढें होते अंकुरित । वेल गीतारूपी ही ॥ १५ ॥
 तो हा सहावा अध्याय । सांगेन शब्दे काव्यमय ।
 म्हणून तुम्ही निजहृदय । सावध करून एका हो ॥ १६ ॥



माझें कौतुकें मराठी बोल । अमृता पैजेनें जिंकितली ।
 ऐसीं मी अक्षरें रसाळ । गीता सांगतां मेळवीन ॥ १७ ॥
 शब्द असे हे कोमल । जे सप्तस्वराहून मंजुळ ।
 हे असा वेध लावतील । कीं वाटावा सुगंध फिका ॥ १८ ॥
 ऐसा यांचा रसाळपणा । कीं जिभा फुटतील कानांना ।
 इंद्रियें मोहून शब्दांना । परस्परांशीं भांडतील ॥ १९ ॥
 सहजपणानें शब्द होय । जरी कानाचाचि विषय ।
 तरी रसाळपणानें प्रिय । रस वाटे जिभेसी हा ॥ २० ॥
 सुवासाची घ्राणेंद्रियासी । आवडी असते विशेषीं ।
 तरी हा शब्द नासिकेसी । सुखवी सुगंधी होऊनी ॥ २१ ॥
 याठार्यांची शब्दरचना । समाधान देई डोळ्यांना ।
 वाटेल उघडली तयांना । सौंदर्याची खाण येथ ॥ २२ ॥
 वाक्य पुढें ठाकतां पूर्ण । भेटण्या धावें बाहेर मन ।
 दोन्हीं भुजा सरसावून । आलिंगाया शब्दासी ॥ २३ ॥
 असें माझें माझें म्हणून । इंद्रियें करितीं भांडण ।
 तरी हे शब्द समाधान । सारखें करिती सर्वांचें ॥ २४ ॥
 जैसा सहस्रकर भास्कर । एकटा उदया आल्यावर ।
 सर्व जगाचे व्यापार । घडवी तया जागवुनी ॥ २५ ॥
 २१ तैसें शब्दांचें व्यापकपण । येथ नसें साधारण ।
 चिंतामणीचे सर्व गुण । दिसती येथें मार्मिकासी ॥ २६ ॥
 असो शब्दांचीं ताटें ठेविलीं । मोक्षाचीं पक्कानें वाढिली ।
 अशी पंगत मी मांडिलीं । येथें निष्काम सज्जनासी ॥ २७ ॥

अखंड अक्षय आत्मज्योति । ठाणवई समजावी ती ।
जेवावें ती घेऊन पुढती । कळूं न देतां इंद्रियांना ॥ २८ ॥
श्रवणाच्याही बंधांतुनी । सुटावें लागेल श्रोत्यांनीं ।
केवळ मनाच्या कानांनीं । भोगिलें पाहिजें शब्दां या ॥ २९ ॥
शब्दांचीं सोलून टरफलें । पाहिजें अर्थब्रह्मा भेटलें ।
तरीच तन्मय होण्या मिळें । सुखें होऊन सुखरूप ॥ ३० ॥
कोमलता येईल ऐशीं । तरी ती पडे उपयोगासी ।
अन्यथा मुक्यानें बहिन्याशीं । चर्चा करावी होय तसें ॥ ३१ ॥
परी हें सर्व असो आतां । निवडायासी नको श्रोता ।
निष्काम जे ते स्वभावता । असती येथें अधिकारी ॥ ३२ ॥
आत्मलाभासाठीं ज्यांनीं । इहपरसुखें ओवाळुनीं ।
टाकिलीं, घ्यावी गोडी त्यांनीं । येथीची, अन्या न कळे ती ॥ ३३ ॥
कावळा न ओळखी चंद्रासी । हा ग्रंथ न कळे सामान्यासी ।
चंद्राविणें चकोरासी । खाद्य दुसरें आवडेना ॥ ३४ ॥
तेवीं सज्ञानी जे होती । ते या ग्रंथीं रुचि घेती ।
परि अज्ञानी जनाप्रति । गांव चुकलें वाटें इथें ॥ ३५ ॥
असो विशेषें हें वर्णन । करायाचें न कारण ।
ओघानें आलें म्हणून । थोडें बोलून गेलों मी ॥ ३६ ॥
^{३१} त्याची मजसी कृपेनीं । क्षमा करावी सज्जनांनीं ।
आतां कथिलें श्रीकृष्णांनीं । तेंच आपणा निवेदीन ॥ ३७ ॥
ज्याचें कराया आकलन । बुद्धीसहि वाटें कठीण ।
तयासी शब्दांत आणून । बोलणें कां शक्य होई ? ॥ ३८ ॥

परी निवृत्तिनाथ सकृप । हेच मज जाहले दीप ।
त्यांच्या प्रकाशांत मी रूप । पाहीन कृष्णाच्या बोधाचें ॥ ३९ ॥
जेथ दृष्टिहि ना पोंचते । दृष्टीवीण पाहतां ये तें ।
जरी भाग्यानें लाभतें । बळ अतीन्द्रियज्ञानाचें ॥ ४० ॥
जें न लाभतें किमयेंत । तें सोनें मिळें लोखंडांत ।
जरी सांपडला हातांत । परीस तो सुदैवानें ॥ ४१ ॥
तैशी सद्गुरुकृपा होतां । नाहीं दुर्घट, कांहीं करितां ।
ज्ञानदेव म्हणती मज आतां । अपारपणें लाभली ती ॥ ४२ ॥
त्या बळें मी बोलूं शकेन । शब्दें अव्यक्ता व्यक्तवीन ।
अतीन्द्रिय परी भोगवीन । मी इंद्रियाकरवीं तें ॥ ४३ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च न निरमिर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

एका यश, श्री, औदार्य, । ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य ।
या साही गुणांचा समुदाय । जेथें घेई विश्रांति ॥ ४४ ॥
म्हणून त्या भगवंत म्हणती । जो निःसंगाचा सांगाती ।
तो म्हणाला अर्जुनाप्रति । चित्त देऊन एके हें ॥ ४५ ॥
कर्मयोगी आणि संन्यासी । हे एक, न मानी भिन्न त्यासी ।
विचार करतां प्रत्ययासी । दोन्ही येती एकपणें ॥ ४६ ॥
टाकितं नामाच्या भिन्नतेस । तरी जो योग तो संन्यास ।
ब्रह्मस्थितींत ना अवकाश । या दोघांच्या भिन्नतेसी ॥ ४७ ॥

४१ जशीं वेगळीं घेऊन नांवे । एका पुरुषा बोलवावे ।
किंवा एकाच गांवा जावे । जैसे दोन्ही मार्गांनीं ॥ ४८ ॥
अथवा तें एकचि पाणी । ठेवावे नाना पात्रीं भरोनी ।
तशी भिन्नता ही असे जाणी । योग आणि संन्यासाची ॥ ४९ ॥
एक मतानें तयाला । योगी म्हणून मानिला ।
जो फळाच्या आसक्तीला । सोडूनिया कर्म करीं ॥ ५० ॥
पृथ्वी अहंकाराविण । वनस्पतीस करी उत्पन्न ।
आणि तयांच्या पासून । फळ कांहीं अपेक्षी ना ॥ ५१ ॥
तैसें वर्णाश्रमाप्रमाणें । वा कुलपरंपरेनें ।
जें जें जयावेळीं करणें । स्वधर्मानें विहित ठरें ॥ ५२ ॥
तें तें सारें योग्य करी । परी अहंता न तेथें धरी ।
आणि न ठेवी अंतरीं । आसक्त-बुद्धि फळाविशीं ॥ ५३ ॥
ऐसें जयाचें वर्तन । तो संन्यासी म्हणून ।
ओळखावा, तोच पूर्ण । कर्मयोगी निश्चयानें ॥ ५४ ॥
जो नित्य नैमित्तिक उत्तम । बंधक म्हणून टाकीं कर्म ।
आणि तेथेंच अविरामें । अन्य कार्ये करू लागे ॥ ५५ ॥
काढून टाकी लेप एक । वरी लगेच लावी आणिक ।
तैसा दुराग्रहाचा सेवक । तो भोगितो कष्ट वायां ॥ ५६ ॥
गृहस्थाश्रमाचें तें शिरीं । ओझें आधींच आहे भारी ।
संन्यासाचें त्यांत वरी । कर्म लावून घेई तो ॥ ५७ ॥
५१ म्हणून अग्निसेवा न सोडितां । कर्माचरणें न टाळितां ।
योगाचें सुख तत्त्वता । आपुल्याठायीं भोगता ये ॥ ५८ ॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥
जो संन्यासी तोच योगी । ऐशी एकवाक्यता जर्गी ।
शास्त्रें कथिलीं लोकालागीं । झेंडे हातीं नाचवून ॥ ५९ ॥
संकल्पाचा होता त्याग । तोच संन्यास तोच योग ।
ऐसें अनुभवानें सवेग । एक सत्य कळून ये ॥ ६० ॥
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥
योगरूप पर्वतावरी । चढण्याची ज्या आस्था खरी ।
त्यानें कर्ममार्गाची पायरी । चढायासी चुकूं नये ॥ ६१ ॥
यमनियमांचा पायथा आधीं । पायवाट-आसनें सार्धीं ।
मग चढून पोचें, मधीं । प्राणायामाचा खडा चढ ॥ ६२ ॥
मग प्रत्याहाराचे कडे । बुद्धीसही जे निसरडे ।
माघार घेती ज्याच्यापुढें । पण सोडून हटयोगी ॥ ६३ ॥
परी साधक प्रत्याहारी । त्या निराधार कड्यावरी ।
अभ्यासाच्या बळावरी । मार्ग काढिती हळूहळू ॥ ६४ ॥
वैराग्यरूपी नखांनीं । खोवून धरिती बिलगुनी ।
त्या अवघड कड्यावरुनी । हळूहळू सरती पुढें ॥ ६५ ॥
मग जिंकिलेला पवन । त्याचें करून वाहन ।
योगी पोचतो येऊन । पठारावरी धारणेच्या ॥ ६६ ॥
पठारींच्या विस्तृत । मार्गे राहून चालत ।
ध्यानाच्या शिखरापर्यंत । येऊन, टाकी तें मार्गे ॥ ६७ ॥

मग मार्ग चालणें संपतें । प्रवृत्तीची हाव पुरते ।
 साध्यसाधन एक होतें । समरसून समाधीसी ॥ ६८ ॥
 जेथें पुढें कांहीं नुरतें । स्मृति मागची संपते ।
 अशा ऐक्याच्या भूमिकेतें । समाधी राही निश्चयें ॥ ६९ ॥
 ६९ ऐशा उपायांनीं योगांत । जो अत्यंत निष्णात ।
 त्या योग्याच्या लक्षणांप्रत । ऐक तुजसी सांगतों मी ॥ ७० ॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषजते ।

सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

ज्याच्या इंद्रियांच्या घरी । विषयांची न होते वारी ।
 स्वस्थ झोपला निर्धारी । आत्मबोधाच्या गुहेंत जो ॥ ७१ ॥
 सुख-दुःखें धक्के देतीं । तरी न मना ये जागृती ।
 जरी विषय जवळ येती । तरी जाणिव नसे तया ॥ ७२ ॥
 जरी तयाचीं इंद्रियें सारीं । कर्में करितीं परोपरी ।
 तरी तयाच्या अंतरीं । फळाविषयीं इच्छा नसे ॥ ७३ ॥
 जो देहधारी असून । ऐशापरी ये दिसून ।
 जागृती ज्या निद्रेसमान । योगारूढ म्हणे तया ॥ ७४ ॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

तेथ अर्जुन म्हणे कृष्णासी । ऐकतां वाटे आश्चर्यासी ।
 अशी ही योग्यता तयासी । कोणी दिली सांग कृष्णा ॥ ७५ ॥
 तेव्हां हांसून कृष्ण म्हणे । नवलाचें हें तव बोलणें ।
 अद्वैतामधें या कवणें । काय द्यावें कवणासी ॥ ७६ ॥

: १७४ :

अविवेकाचीं अंथरुणें । तेथ माया निजवी बळानें ।
 तई जीव भोगितो दुःस्वप्नें । जन्ममृत्यूचीं परोपरी ॥ ७७ ॥
 मग सहसा ये जागृति । तयीं कळते सर्व भ्रांति ।
 ऐशी उमजे सत्यस्थिति । ती ही ठायीं आपुल्याचि ॥ ७८ ॥
 म्हणून आपला आपण । घात करिती सर्व जन ।
 देऊन निज अंतःकरण । मिथ्या देहाभिमानाकडे ॥ ७९ ॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

७९ विवेकें टाकितां अहंता । लाभे सिद्ध स्व-रूपता ।
 असें सहज यें साधितां । कल्याण आपणा आपुलें ॥ ८० ॥
 अन्यथा कोशकिड्यापरी । आपुला आपण होतो वैरी ।
 ज्यानें श्रेष्ठ म्हणून शरीरीं । आत्मबुद्धि ठेविलीसे ॥ ८१ ॥
 लाभाच्या नेमके वेळें । आंधळेपणाचे डोहाळे ।
 करंट्यास होती, तो डोळे । आपुले आपण झांकितो ॥ ८२ ॥
 वेड लागलेला भ्रमानें । तो मी नव्हे दुसरा म्हणे ।
 भलतेंच वेड तयानें । घेतलें असें ऐशापरी ॥ ८३ ॥
 असावा तोच आहे खरा । परी न पटे त्याचें अंतरा ।
 काय स्वप्नामधला सुरा । प्रत्यक्ष ठार करूं शके ॥ ८४ ॥
 जसें पोपटाच्या भारानें । फिरून उलटावें नळीनें ।
 तयीं उडून जावें पोपटानें । परी शंका आडवी तया ॥ ८५ ॥
 व्यर्थ भयें तो मुरडी मान । छाती आवळी घाबरून ।
 चवड्यामधें धरून । नळी राहे घट्टपणें ॥ ८६ ॥

: १७५ :

म्हणे मी गेलों बांधला । या भ्रमपाशांत गुंतला ।
 अधिक गुंतवी पंजाला । मुक्त असून मुळामधें ॥ ८७ ॥
 कारणाविण असा गुंते । सांग बांधिले कुणी त्यातें ।
 ओढून काढितां तयातें । तुटे, परी न सोडी नळी ॥ ८८ ॥
 म्हणून आपण आपणां । वैरी असतो अर्जुना ।
 जो वाढवी देहाभिमाना । संकल्पून तसें चित्तीं ॥ ८९ ॥
 खोट्याचा अभिमान परी । विवेकानें जो न धरी ।
 तयासी म्हणे श्रीहरी । आत्मज्ञानी समजावें ॥ ९० ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

८९ आणि ज्यांनीं आपुलें मन । घेतलें आहे जिंकोन ।
 ज्याच्या सर्व कामना पूर्ण । शांत झाल्या मनोजयें ॥ ९१ ॥
 आतां अर्जुना तयाते । परमात्म्यासी भेटण्यातें ।
 दूर न कोठें लागतें । जावयासी अन्यत्र ॥ ९२ ॥
 हिणकसांतले जाता हीण । तेंच होतें शुद्ध सुवर्ण ।
 तैसें संकल्पाचें निरसन । होता, जीव ब्रह्म आहे ॥ ९३ ॥
 घट भंगून गेल्यासी । घटांतल्या अवकाशासी ।
 मिळून जावया आकाशीं । अन्यत्र जावें लागतें कां ॥ ९४ ॥
 तैसा मिथ्या देहाभिमान । समूळ गेल्या निरसून ।
 तरी परमात्मा व्यापून । सर्वत्र असे मुळांतचि ॥ ९५ ॥
 आतां संपलें शीतउष्ण । सुखदुःखें जातीं लोपून ।
 हा मान वा हा अपमान । असें बोलणें उरतें ना ॥ ९६ ॥

: १७६ :

ज्या मार्गानें सूर्य जाई । प्रकाश तेथें भरून राही ।
 तसें यातें जें प्राप्त होई । स्वरूप होतें तें याचें ॥ ९७ ॥
 मेघांतून धारा सुटती । त्या समुद्रासी न बोंचती ।
 तसें ऐक्यभावे न भासतीं । शुभाशुभें योगिराजा ॥ ९८ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।

युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाश्चनः ॥ ८ ॥

आतां हें जें दिसणारें । विज्ञानात्मक विश्व सारें ।
 तें ज्यासी आत्मविचारें । व्यर्थ जाहलें मिथ्यापणें ॥ ९९ ॥
 मग तो योगी आत्मज्ञानी । जें जें पाहतो लोचनीं ।
 तें तें आपण होऊनी । राहिलों हें दिसें तया ॥ १०० ॥
 व्यापक किंवा मर्यादित । ऐसी चर्चा करण्यांत ।
 आतां नुरल्यामुळें द्रैत । अर्थ कांहीं राहिला ना ॥ १०१ ॥
 ऐसा असून शरीरीं । करी ब्रह्माची बरोबरी ।
 ज्यानें निज इंद्रियें सारीं । जिंकून असतीं घेतलीं ॥ १०२ ॥
 ११ तोच मानावा जितेंद्रिय । योगयुक्तहि तोच होय ।
 कधींहि न ज्याचें हृदय । सान थोर हा भेद जाणें ॥ १०३ ॥
 मेरूपर्वता एवढें । ढीग सोन्याचे आले पुढें ।
 वा मातीचे कांहीं खडे । त्या जो मानी सारखेंच ॥ १०४ ॥
 शुद्ध तेजस्वी रत्न जरीं । पृथ्वीमोलाचें आलें करीं ।
 तरीं त्यासी दगडापरी । मानीं ऐसा निरिच्छ जो ॥ १०५ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

: १७७ :

आतां, अद्वैत स्थितींत । शत्रू मित्र न उरतात ।
 उदास वा चिंती हित । भेदकल्पना हीहि नुरे ॥१०६॥
 सर्व विश्व झालों मीचि । ऐशी प्रतीति जयाची ।
 शत्रुता त्यासी न कोणाची । बंधु त्याचा कोणी नसे ॥१०७॥
 मग ना तयाच्या दृष्टीस । उच्चनीच ऐसा विशेष ।
 लोहाप्रति लागता परीस । कसांत उणीव राहे ना ॥१०८॥
 बावन्न कशी होत सोनें । जैसे परिसाच्या स्पर्शानें ।
 तैसें चराचर साम्यानें । प्रकाशें त्याच्या बुद्धीमधें ॥१०९॥
 विश्वरूप हे अलंकार । जरी शोभती विविधाकार ।
 तरी ते सर्वहि प्रकार । एका ब्रह्मरूप सोन्याचे ॥११०॥
 ऐसें सत्य-वस्तु-ज्ञान । धारण करी त्याचे मन ।
 तो न फसला जाई म्हणून । आकाराच्या कवचानें ॥१११॥
 जसें पाहतां वस्त्राकडे । तंतूच दिसती तेवढे ।
 सूक्ष्मतेच्या दृष्टी पडे । त्यावीण ना अन्य कांहीं ॥११२॥
 १०१ ऐसी प्रतीति होते जया । तीच मिळे अनुभवाया ।
 तरीच समबुद्धी तया । म्हणावें हें न अन्यथा ॥११३॥
 त्याचें नांव तीर्थासमान । पावन, दर्शन दे समाधान ।
 त्याच्या संगती भ्रांत जन । पावती ब्रह्मभावासी ॥११४॥
 पहा तयाच्या बोलांतून । धर्मास लाभें जीवन ।
 सिद्धीचें करी ' निर्माण ' । पार्था त्याची कृपादृष्टि ॥११५॥
 सुखें सर्व प्रकारचीं । स्वर्गीचीं वा भूवरीचीं ।
 मिळवून देणें ही ज्याची । सहज लीला असते कीं ॥११६॥

: १७८ :

केवळ त्याच्या स्मरणानें । योग्यता ये त्याप्रमाणें ।
 त्या श्रेष्ठाची स्तुती करणें । होतें सर्वांच्या हिताचें ॥११७॥
 मावळणें नाही जयास । असा उगवे अद्वैत दिवस ।
 मग तो ठेवी आपणास । निमग्न सदा स्वात्मसुखीं ॥११८॥
 योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
 एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥
 ऐसा विवेक जया होय । तो होतसे अद्वितीय ।
 तिन्ही लोकीं त्याचा ठाय । म्हणून उपाधीशून्य तो ॥११९॥
 ऐसीं लोकोत्तर लक्षणें । योगयुक्ताचीं श्रीकृष्णें ।
 आपुल्या व्यापकपणानें । कथिलीं तेशें अर्जुनासी ॥१२०॥
 जो सद्गुरु ज्ञानियांचा । प्रकाश द्रष्ट्यांच्या दृष्टीचा ।
 संकल्प ज्या समर्थाचा । करी रचना विश्वाची ॥१२१॥
 ॐ काराचिया पेठेंत । वेदरूपीं वस्त्र होत ।
 तेहि वेढण्या ना पुरत । जयाचिया यशाप्रति ॥१२२॥
 ज्याच्या अंगच्या तेजानें । तळपावें चंद्रसूर्यानें ।
 जगहि त्याच्या सत्तेनें । झालें आहें प्रकाशित ॥१२३॥
 १११ पहा जयाच्या नांवापुढें । आकाशहि भासें तोकडें ।
 त्याचे गुण किती केवढे । एकेक कैसे जाणावें ॥१२४॥
 म्हणून पुरें हें वर्णन । या मिषें जें बोलिलें लक्षण ।
 तें कोणाचें वा काय म्हणून । कथिलें, न कळें देवानें ॥१२५॥
 द्वैतदशेचें ठावठिकाण । नष्ट करीं जें आत्मज्ञान ।
 तें सांगतां उघड करून । प्रेम अर्जुनीं उणावेल ॥१२६॥

: १७९ :



म्हणून देवांनीं तें न केलें । द्वैत कल्पित आड लाविलें ।
 आणि मन ठेविलें वेगळें । भक्तिसुखासी भोगावया ॥१२७॥
 मी ब्रह्म या भावनेंत । जे अडकून राहतात ।
 लालचावलें ज्यांचें चित्त । मोक्षाचें सुख भोगावया ॥१२८॥
 असा ब्रह्मज्ञानाचा फार । वाढे जया अहंकार ।
 त्यांच्या दृष्टीचा विकार । बाधो न अर्जुन-प्रेमासी ॥१२९॥
 जाऊन पार्थाची अहंता । जरी त्या ये ब्रह्मरूपता ।
 तरी काय करूं मी आतां । येथें एकटेपणानें ॥१३०॥
 ज्या बघतां वाटें समाधान । ज्यासी बोलावें तोंड भरून ।
 वा प्रेमें घ्यावें दृढ आलिंगन । ऐसें आणावे कोण मग ? ॥१३१॥
 जें कां वाटून चांगलें । जीवांत न जातें मावलें ।
 तें सांगावें कोणा भलें । पूर्ण ऐक्य होई जरी ॥१३२॥
 या विचाराने व्याकूळ । जाहला तो घननीळ ।
 म्हणून अन्योक्तीनें केवळ । लक्षणें कथिली योग्यांचीं ॥१३३॥
 अर्जुनाचें अर्जुनपण । जाऊं देतां न मावळून ।
 बोधमिषें त्याचें मन । निज मनानें आलिंगिलें ॥१३४॥
 हें सर्वही वर्णन । अवघड वाटें ऐकून ।
 परी खरोखरी अर्जुन । मूर्ति कृष्णाच्या सुखाची ॥१३५॥
 १११ जेवीं उतरत्या वयांत । वांझोटीला मूल होत ।
 मग मोहचि मूर्तिमंत । त्रिविधतेनें नाचूं लागे ॥१३६॥
 आपण आणि आपुलें मूल । एकुलतें एक लडिवाळ ।
 आणि प्रेम त्याच्यावरील । मोह नांदे त्रिविध असा ॥१३७॥



तैसें कृष्णासी तेथें । अर्जुनामुळें झालें होतें ।
 प्रेम उत्कट पाहिलें मी तें । म्हणून ऐसें वर्णिलें हें ॥१३८॥
 पहा आश्चर्य कैसें अगाध । कोठें उपदेश कोठें युद्ध ।
 परी कृष्णरूपें हें प्रसिद्ध । अर्जुनप्रेम नाचें तयीं ॥१३९॥
 प्रेम आणि लाजवितें । व्यसन आणि कष्ट देतें ।
 वेड आणि न मोहवितें । ऐसें काय होतें कधी ? ॥१४०॥
 या बोलण्याचा भावार्थ । एवढाच आहे येथ ।
 कीं अर्जुन हा मूर्तिमंत । आश्रयस्थान मित्रतेचें ॥१४१॥
 वा सुखानें शृंगारिलेला । श्रीकृष्णाचा ' भाव ' भला ।
 त्याच्या पुढतीं ठेविला । अर्जुनरूपें आरसा हा ॥१४२॥
 ऐशापरी तो अर्जुन । धन्य धन्य पुण्यपावन ।
 भक्तीच्या बीजालागुन । सुपीक क्षेत्र झाला जो ॥१४३॥
 यास्तव कृष्णाच्या कृपेसी । पात्र झाला विशेषीं ।
 म्हणून तेथें अर्जुनासी । योग-ज्ञान कृष्ण सांगें ॥१४४॥
 वा आत्मनिवेदनाची भूमिका । सख्यभक्ति असे जी कां ।
 तिची अधिष्ठात्री मातृका । अर्जुन झाला स्वयमेव ॥१४५॥
 प्रभूचें न करितां वर्णन । सेवकाचे घ्यावे गुण ।
 असा आवडता अर्जुन । सहज होता कृष्णासि ॥१४६॥
 प्रेमें करी जी पतिभक्ति । फार मानितो जिला पति ।
 त्या पतिव्रतेची स्तुति । पतीपेक्षां अधिक होते ॥१४७॥
 तैसा पार्थ विशेषें वर्णावा । असें वाटलें माझ्या जीवा ।
 कीं जो त्रिभुवनाच्या सुदैवा । आधार एक झाला असे ॥१४८॥

१३१ ज्याच्या प्रेमाच्या स्वाधीन । होऊन, अव्यक्त झाले सगुण ।
 सर्वथा असून परिपूर्ण । कृष्णा ज्याची ओढ लागे ॥१४९॥
 तेव्हां श्रोते म्हणाले । भाग्य आमुचें फळा आलें ।
 सौंदर्य आहे ओसंडलें । व्याख्यानार्थं यावेळीं ॥१५०॥
 हें कीं वर्णन चांगलें । मंजुळपणें ओथंबलें ।
 नादब्रह्मा जिंकून आलें । असें शोभतें ये ठायीं ॥१५१॥
 आश्चर्य मराठी प्राकृत । इतुकी सुंदर बोलतां येत ।
 उधळले जाती आकाशांत । जिच्यामुळें काव्यरंग ॥१५२॥
 ज्ञानाचें चांदणें उज्वल । जें भावार्थानें शीतल ।
 श्लोकार्थाचें चंद्रकमल । कसें पहा हें विकसलें ॥१५३॥
 निष्कामाच्याहि चित्तातें । व्याख्यान ऐकावें वाटतें ।
 मोहून भाषेच्या सद्गुणातें । डोलू लागले श्रोते असे ॥१५४॥
 तें ज्ञानेश्वरांनीं जाणलें । मग लक्ष द्या म्हणाले ।
 पहा पांडवा भाग्य उजळलें । कृष्णरूपी दिवसानें ॥१५५॥
 जो देवकीनें उदरीं वाहिला । कष्टें यशोदेनें वाढविला ।
 परी तो उपयोगी पडला । अंतीं एका पांडवांच्या ॥१५६॥
 म्हणून सेवा बहु करावी । विनविण्या संधी शोधायी ।
 ऐसें प्रयास कांहीं जीवीं । पडले न त्यां भाग्यवंता ॥१५७॥
 हें असो, पुढती कथा । श्रोते म्हणाले सांगा आतां ।
 तें मानून निज चित्ता । म्हणती असे ज्ञानदेव ॥१५८॥
 सलगी करून अर्जुन म्हणे । देवा हीं संतांचीं लक्षणें ।
 जीं तुम्हीं कथिलीं प्रेमानें । माझ्या अंगीं नसतीं तीं ॥१५९॥

: १८२ :

लक्षणांचा करितां विचार । मी अपुरा ठरेन फार ।
 परी बोधाच्या बळावर । तुमच्या, थोर होईन मी ॥१६०॥
 १४१ तुम्हीं जरी आणाल मनीं । तरी नांदेन ब्रह्मपणीं ।
 तुम्हीं सांगाल त्या रीतीनीं । करीन मी अभ्यासहि ॥१६१॥
 तुम्हीं कोणाविषयीं बोलतां । तें नेमकें न कळें चित्ता ।
 परीं मनीं वाटें हें ऐकतां । त्या स्थितीसी प्रशंसावें ॥१६२॥
 मग प्रत्यक्ष ब्रह्मस्थिति । लाभली असे ज्याप्रति ।
 त्याच्या आनंदाची मिति । करावी कोणत्या मापानें ॥१६३॥
 प्रभो ती स्थिति लाभेल मला । असे करा, मानून आपुला ।
 तयीं तो श्रीकृष्ण हांसला । आणि म्हणाला, 'बरें करूं' ॥१६४॥
 पहा जंव ना समाधान । तंव सुखाची अडचण ।
 संतोष तो लाभतां पूर्ण । सुखा न्यूनता कुठें नसे ॥१६५॥
 होतां सर्वेश्वराचा सेवक । ब्रह्म होणें न त्या कौतुक ।
 परी कसा अलौकिक । कृष्ण पांवल्ला भाग्यानें ॥१६६॥
 सहस्रजन्म कष्टून । जो इंद्रादिका न दे दर्शन ।
 तो पहा किती आधीन । अर्जुनाच्या झाला असे ॥१६७॥
 अर्जुनानें कांहीं मागावें । तेंहि न कृष्णा सोसवें ।
 बोलण्या उत्सुक असावें । कृष्णें प्रश्नापूर्वींहि ॥१६८॥
 असो, मी ब्रह्म व्हावें अशी । इच्छा अर्जुनाच्या मानसीं ।
 सांगता, ती, सर्व अंशी । विचारीं घेतली कृष्णानें ॥१६९॥
 तेथ म्हणे, पार्था लागले । हे जे ब्रह्मत्वाचे डोहाळे ।
 त्यावरून वैराग्य आलें । गर्भांत बुद्धीच्या निश्चयें ॥१७०॥

: १८३ :

एरवीं दिवस न झाले पुरते । परी वैराग्याचिया वसंतें ।
 मोहोर डंवरला या येथें । सोऽहं भावाच्या वृत्तीचा ॥१७१॥
 म्हणून ब्रह्मप्राप्तीचें फळ । येण्या आतां न लागें वेळ ।
 हा पूर्ण विरक्त होईल । आला विश्वास देवा असा ॥१७२॥
 १५१ आतां जें जें हा करील । तें तें शीघ्र यासी साधेल ।
 म्हणून न वायां जाईल । यास अभ्यास सांगता ॥१७३॥
 या विचारानें श्रीहरी । अर्जुना म्हणाले, अंतरीं ।
 दक्ष होऊन ऐके तरी । श्रेष्ठ मार्ग कथितों तुला ॥१७४॥
 ज्या पंथराज योगांत । प्रवृत्तीच्या वृक्षाप्रत ।
 मुळाशीं लागली दिसतात । निवृत्ति फळें कोट्यवधी ॥१७५॥
 या मार्गाची थोर महती । अर्जुना तुज सांगू किती ।
 अजुनी ईश-पशुपति । यात्रेकरू या मार्गातला ॥१७६॥
 आलंबहीन मार्गांनीं । धाव घेतली योगीजनीं ।
 त्यांच्या अनुभवाच्या पाउलांनीं । रुळून गेला मार्ग तो ॥१७७॥
 आत्मबोधाच्या मार्गें सरळ । योगी सतत गेले सकळ ।
 दुर्लक्षिले मार्ग पुष्कळ । अज्ञानानें भरलेले ॥१७८॥
 महर्षी याच मार्गें गेले । येथे साधकांचे सिद्ध झाले ।
 आत्मज्ञान्यांसीं प्राप्त झालें । महत्त्व याच मार्गामुळें ॥१७९॥
 ओळखतां या मार्गातें । तहान भूक विसरते ।
 रात्र दिवसांचें न उरतें । भान चालतां मार्गें या ॥१८०॥
 चालतां पाऊल जेथ पडें । तेथ मोक्षाची खाण उघडे ।
 भ्रष्ट होतांही सांपडें । भोगण्या येथें स्वर्गसुख ॥१८१॥

येथें पूर्वदिशेसी चालावें । तरी पश्चिमेच्या घरीं यावें ।
 येथचें चालणें जाणावें । पार्था निश्चलपणा हेंचि ॥१८२॥
 जेथें जाण्यासी चालावें । तोच गांव आपण व्हावें ।
 असो हें किती सांगावें । सहज कळें तुजला तें ॥१८३॥
 १६१ तयीं कृष्णास म्हणे अर्जुन । द्यावी ती स्थिति मिळवून ।
 उत्कंठेच्या समुद्रांतून । बुडतो, काढा त्वरेनें ॥१८४॥
 तयीं कृष्ण म्हणती अर्जुना । किती हा उतावीळपणा ।
 सांगत होतो, तोंच प्रश्ना । विचारिलें तूं आम्हांप्रति ॥१८५॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

तुझी अपेक्षा जयानें । पुरेल असें विस्तारानें ।
 सांगेन परी अनुभवानें । तें उपयोगा येईल ॥१८६॥
 तो अनुभव घ्यावयासी । साधकें अनुष्ठानासी ।
 बसलें पाहिजें, तयासी । योग्य स्थान एक हवें ॥१८७॥
 जाऊन बसतां ज्या स्थानीं । चित्त रमेल समाधानीं ।
 उठावें ना वाटेल मनीं । वैराग्यासी चढेल बळ ॥१८८॥
 जे संतांनीं पावन केलें । जेथ संतोषा साह्य मिळें ।
 धैर्य मनाचें टिकून भलें । जेथ उत्साह वाढे त्याचा ॥१८९॥
 अभ्यास घडे सहज जेथें । अनुभव भेटे हृदयातें ।
 अशी रमणीयता नांदते । विशेषानें जिथें सदा ॥१९०॥
 जें स्थलीं येतां अर्जुना । नास्तिकाच्याहि वाटें मना ।
 कीं येथें बसून चिंतना । तपश्चर्या आचरावी ॥१९१॥



सहज जातां स्थल तें जरी । विषयासक्तानें पाहिलें तरी ।
 त्यासहि तेथून माघारी । फिरावेसें वाटूं नये ॥१९२॥
 जें न राहणाऱ्यासी राहवितें । भटकणाऱ्यासी बैसवितें ।
 जें जागृत करीं वैराग्यातें । कौतुकानें थापटुनी ॥१९३॥
 जें स्थान पाहतांक्षणीं । येथें बसावें निवांतपणीं ।
 राज्य आपुलें टाकुनी । ऐसें म्हणे विलासीहि ॥१९४॥
 १०१ असें तें असावें सुंदर, । निर्मल, पवित्रतेचें घर ।
 ध्येय होऊन साकार । डोळ्यापुढें राही जितें ॥१९५॥
 आणिक एक असावा गुण । की तेथें हो साधकजन ।
 तसेंच नसावें तें स्थान । लोकांच्या वर्दळींतलें ॥१९६॥
 अमृतापरी फळें मुळें । जे देतात सर्व काळें ।
 अशा वृक्षांनीं शोभलेलें । तिथें असावें दाट वन ॥१९७॥
 विपुलपणें मिळावें जल । जें वर्षाकालींहि निर्मल ।
 झरे वाहणारे सलील । सुलभ असावें त्या स्थानीं ॥१९८॥
 ऊन्ह त्या स्थळीं पडलेलें । सौम्य असावें कोवळें ।
 वारे जेथ स्थिरावले । शीत वाहती मंद मंद ॥१९९॥
 बहुधा असे निःशब्द शांत । श्वापदें फार नसावीं तेथ ।
 विशेषसें ना आढळावेत । राघू किंवा भुंगे तिथें ॥२००॥
 हंस किंवा चक्रवाक । असावेत कांहीं एक ।
 वसंताचा स्तुतिपाठक । कोकिल तो येवो कधीं ॥२०१॥
 जरी नको वरचेवर । तरी कधीं कधीं सुंदर ।
 आले गेले जरी मोर । आमुची ना नसे तया ॥२०२॥

: १८६ :



ऐसें अवश्य शोधून । काढावें रमणीय स्थान ।
 असावी निवासाकारण । तेथ गुहा वा शिवालय ॥२०३॥
 जें रुचेल या दोहींत । मानवेल जें मनांत ।
 बहुत करुनी एकांत । जेथें मिळावा अनुष्ठाना ॥२०४॥
 १८१ हें सर्व नीट शोधावें । मन रमते कां बघावें ।
 आणि रमेल तरी लावावें । आसन तेथें ऐशापरी ॥२०५॥
 न मोडलेले दर्भ खालीं । मृगाजिन त्यावरी घाली ।
 नंतरी पाहिजे ठेविली । घडी धुतल्या वस्त्राची ॥२०६॥
 दर्भ व्यवस्थित घालावे । ते कोमल सारखे असावे ।
 एकमेकांसी ठेवावे । घट्टपणानें जोडुनी ॥२०७॥
 आसन उंच होईल । तरी शरीर डोलेल ।
 भूमिदोष बाधतील । तें पातळ ठेविल्यानें ॥२०८॥
 असो, घातिलेल्या आसनांत । दोष कांहीं नसावेत ।
 सारखें समस्थितींत । राहिल ऐसें असावें तें ॥२०९॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

मग त्या आसनीं बसून । एकाग्र करावें मन ।
 आणि सद्गुरुचें चरण । आदरांनीं आठवावें ॥२१०॥
 त्या आदराच्या स्मरणांनीं । सात्विकता वाढे देहीं, मनीं ।
 आणि जातसे विरघळोनी । अहंतेचा कठिणपणा ॥२११॥
 विषयांचा पडे विसर । इंद्रियें न धांवतीं बाहेर ।
 मन मोडून होतें स्थिर । हृदयामाजीं तयाच्या ॥२१२॥

: १८७ :

ऐसी एकाग्रता सहजपणें । मिळेतों थांबावें साधकानें ।
मग त्या ऐक्याच्या बोधानें । आसनावरीं स्थिर व्हावें ॥२१३॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।

संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

तेव्हां देह देहातें सांवरी । प्राण प्राणां धारण करी ।
असा पुढें वरचेवरी । अनुभव येऊं लागतो ॥२१४॥
१११ प्रवृत्ति अंतर्मुख होते । समाधी ती निकट येते ।
ऐसें बसतां आसनातें । अभ्यास ये संपावया ॥२१५॥
ज्या मुद्रेच्या थोरवीनें । हे साधे, ती ऐक मनें ।
आपुल्या मांड्या पोटरीनें । घट्ट दाबून ठेवाव्या ॥२१६॥
एका पायाचा तळवा । वाकडा दुज्यावरी ठेवावा ।
आधार-चक्रासी लावावा । घट्टपणें तो गुदस्थानीं ॥२१७॥
उजवी टांच खालीं घेऊनी । शिवणीस ठेवावी दाबुनी ।
पाऊल डावें सहजपणीं । वरती लावून ठेवावें ॥२१८॥
खालीं गुद वरी शिप्र । मधें चार बोटांचें स्थान ।
त्यांतील द्यावें सोडून । दीड अंगुल दोन्हीकडे ॥२१९॥
मग मधें जें एक बोट । तेथें टांच रोवणें नीट ।
आणि वरी बसून ताठ । शरीर धरावें पेलुनी ॥२२०॥
उचललेलें न कळावें । ऐसें शरीर उचलावें ।
नीट तोलून धरावें । माकडहाड, तसे घोटे ॥२२१॥
ऐसें सर्व शरीर । तोललें जाई टांचेवर ।
जणू तो टांचेचा आधार । स्वयंभू आहे देहाचा ॥२२२॥

: १८८ :

अर्जुना हें असें जाण । मूळबंधाचें लक्षण ।
वज्रासन म्हणून । गौण नाम याचें असें ॥२२३॥
असे चक्र जे आधार । मूळबंधाची तयावर ।
मुद्रा पडून अधोद्वार । अपानाचें बंद होतें ॥२२४॥
मग खुंटतां अधोगमन । आंत संकोचे अपान ।
त्या संकोचें करून । ऊर्ध्वगति होतसे तो ॥२२५॥
२०१ हातांचें संपुट करोनि । तें ठेवावें वामचरणीं ।
त्यामुळें थोडके उचलुनी । दोन्ही खांदे दिसती वर ॥२२६॥
पाठ, ताठ खांदे उचलले । त्यांत मस्तक दिसें रोविलेलें ।
डोळ्याच्या पापणीचीं दळें । मिटूं पाहतीं दारें जशीं ॥२२७॥
वरच्या पापण्या उतरती । खालच्या खालीं राहती ।
तेणें अर्धोन्मीलित स्थिति । प्राप्त होते लोचनांना ॥२२८॥
दृष्टि अंतर्मुख राही । कधीं कौतुकें बाहेर येई ।
तरी नासाग्राच्या ठायीं । निवास होई दृष्टीचा ॥२२९॥
फार करून आंतल्या आंत । दृष्टी राहे सदोदित ।
मिटल्या पापणीनें ना जात । वरच्या, नाकापलीकडे ॥२३०॥
आतां दिशांना अवलोकावें । वा रूपांना न्याहाळावें ।
ऐशी इच्छा ना संभवे । अर्जुना, त्या दृष्टीठायीं ॥२३१॥
मग आखडावें मानेप्रत । हनुवटी रोवावी खळग्यांत ।
छातीच्या वरच्या भागांत । घट्टपणें ती ठेवावी ॥२३२॥
तेणें कंठांतील अस्थिमय । घंटिका लोपून जाय ।
-यामुळें जो बंध होय । जालंधर म्हणती तया ॥२३३॥

: १८९ :

नाभी थोडी उंचावते । पोट सपाट होऊन जाते ।
आणि अंतरी विकसते । हृदयाचें कमल पहा ॥२३४॥
शिश्नाजवळीं स्वाधिष्ठान । नाभींखालतीं तेथून ।
बंध पडतसे जो जाण । वोढियाणा म्हणती तया ॥२३५॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

२११ ऐसा बाह्य शरीरांत । अभ्यासाचा लाभ होत ।
तरीं आश्रय नाहीसा होत । आंत, मनाच्या धर्माचा ॥२३६॥
कल्पना होते नाहीशी । वृत्ति न धांवे विषयासी ।
शरीर आणि मनासी । सहज लाभते विश्रांति ॥२३७॥
भूक ती काय जाहली । झोप कोणीकडे गेली ।
याची स्मृति न राहिली । वेग त्यांचे सरल्यामुळें ॥२३८॥
मूळ-बंधामुळें कोंडून । माघारी फिरतो अपान ।
तो वरी आखडला जाऊन । फुगोटी धरूं लागतो ॥२३९॥
वाट नसल्यानें खवळतो । ठार्यांच गुरगुरूं लागतो ।
आणि मणीपूर-चक्रा देतो । धक्के तेधवां अपान तो ॥२४०॥
मग तो उन्मत्त अपान । करी देहाचें शोधन ।
काढून टाकी कुचकी घाण । बाळपणापासूनची ॥२४१॥
संकोचून ना राही स्थिर । करी कोठ्यामधें संचार ।
कफपित्ताचें मुळीं थर । उरो न देई तेथें तो ॥२४२॥
सप्तधातूंचे समुद्र ते । अपान त्या करी पालथे ।
मेदाचिया पर्वतांते । फोडून काढी तेधवां तो ॥२४३॥

: १९० :

सर्व अस्थींच्या आंत । मज्जा असते राहत ।
अपान तिला शिरून तेथ । ओढून काढी बाहेरी ॥२४४॥
सर्व नाड्या मोकळ्या करी । शैथिल्य आणी गात्रांतरी ।
साधका भय दाखवी भारी । परी त्यानें भिऊ नये ॥२४५॥
व्याधी करून उत्पन्न । लगेच टाकी नाशून ।
पृथ्वी जल कालवून । एक करी देहांतलें ॥२४६॥
२२१ अपानाचें कार्य ऐसें । एकीकडे चालत असें ।
तंव दुसरीकडे घडतसें । वेगळें कांही धनंजया ॥२४७॥
वज्रासनीं राहतां । जी वाढलीसे उष्णता ।
तिनें केलीसे जागृता । कुंडलिनी नामें शक्ति ॥२४८॥
रंगें न्हाऊन केशराचें । पिलूं जसें का नागाचें ।
वेढे घालून शरीराचें । स्वस्थ झोपलें असावें ॥२४९॥
तशी दिसे ती कुंडलिनी । नेमकी साडेतीन वळणी ।
निजमुख खालीं घालुनी । नागीण जणूं झोपलेली ॥२५०॥
कडी निर्मावी विजेची । घडी वा अग्निज्वालांची ।
वा घडण करावी वळ्याची । जेवीं शुद्ध सुवर्णानें ॥२५१॥
तशी तेजस्वी कुंडलिनी । आपुला देह संकोचुनी ।
दाटली होती ती वज्रासनीं । डिवचून केली सावध ॥२५२॥
तेव्हां जणूं तारा तुटला । कीं स्थानभ्रष्ट सूर्य झाला ।
वा जणूं अंकुर फुटला । प्रकाशाच्या बीजासी ॥२५३॥
तैशी कुंडलिनी त्यावेळें । सोडीत वेढे आपुले ।
अंगा आळोखे देत लीलें । कंदावरी उभी राही ॥२५४॥

: १९१ :



फार दिवसांची भुकेली । आणि बळें जागी केली ।
 म्हणून ती रागावलेली । निजमुखा पसरी वरी ॥२५५॥
 मग हृदयाच्या खालतीं । जे वायू भरले असती ।
 ही तया सगळ्यांप्रति । गिळून टाकी पूर्णपणें ॥२५६॥
 ज्वाला तिच्या मुखांतल्या । खालीं वरती पसरल्या ।
 आणि त्या घेऊं लागल्या । घांस मांसाचे पुनः पुनः ॥२५७॥
 २३१ जो जो भाग मांसयुक्त । ही तयाचे घांस घेत ।
 हृदयासही ना सोडीत । घांस न घेतां एक दोन ॥२५८॥
 मग तळपाय तळहात । येथलेंहि मांस खात ।
 ऊर्ध्वांग फोडून झाडा घेत । अंगाअंगांच्या सांध्यांचा ॥२५९॥
 आपुला न सोडिता आधार । नखांतलेंहि काढी सार ।
 त्वचा स्वच्छ धुवोनि पार । भिडवी नेऊन हाडासी ॥२६०॥
 हाडांच्या नळ्या आणि शिरा । वोरपिते हा भाग सारा ।
 त्वचेमधल्या केसांकुरा । मुळासकट जाळिते ती ॥२६१॥
 मग सप्तधातूंना पिऊन । भागवी ती आपुली तहान ।
 शरीरांत ठेविते करून । खडखडीत उन्हाळा ती ॥२६२॥
 नाकांतुनी अंगुळें बारा । जो श्वासाचा वाहे वारा ।
 त्यासी पकडुनी माघारा । आणून आंत घाली ती ॥२६३॥
 वर ओढला जाई अपान । खालीं खेंचला जातो प्राण ।
 चक्रांचे पदर उरती जाण । त्या दोघांच्या आलिंगनीं ॥२६४॥
 प्राणापानाचें मीलन । कधींच झालें असतें पूर्ण ।
 परी कुंडलिनीनें क्षोभून । दूर ठेविलें तयांना ॥२६५॥



पार्थिव धातू देहांतले । कांहीं न उरवी तयांतले ।
 जलप्रधान धातू सगळे । स्वच्छ करी पुसोनिया ॥२६६॥
 ऐशी दोन्ही भूतें खाई । मग संपूर्ण तृप्त होई ।
 आणि सौम्य होऊन राही । सुषुम्नेपाशीं येऊनी ॥२६७॥
 २४१ तेथ तृप्तीच्या समाधानें । तिच्या गरळ पडें मुखानें ।
 अमृतासम त्याच्या प्राशनें । रक्षण होतें प्राणाचें ॥२६८॥
 कुंडलिनीच्या मुखांतून । हा जो रस होई निर्माण ।
 तो असून अग्नीसमान । अंतर्बाह्य देह निववी ॥२६९॥
 मग पूर्वी जीं गात्रें सकल । झालेलीं होतीं शिथिल ।
 त्यांना आतां पुन्हां बळ । येऊं लागतें अमृतें या ॥२७०॥
 नाड्यांचें वाहणें संपते । वायूची नवविधता जाते ।
 त्या योगाने धर्म कोणते । राहती ना शरीराचें ॥२७१॥
 इडा पिंगळा एक होती । तिन्ही नाड्यांच्या गांठी सुटती ।
 आणि चक्रें फुटून जातीं । सहाहीं तेव्हां देहांतलीं ॥२७२॥
 नाकपुडींत डावी उजवी । जी वायूची गति बरवी ।
 त्यांना क्रमानें चंद्ररवि । ऐसें मानिलें योगशास्त्रीं ॥२७३॥
 आतां ती चंद्रसूर्य गति । येत ना प्रत्ययाप्रति ।
 जरी नाकाशीं धरुन वाती । यत्न केला जाणण्याचा ॥२७४॥
 बुद्धीची जाणीव थांबते । नाकांत वसती सुवास ते ।
 प्रविष्ट होती सुषुम्नेते । कुंडलिनी शक्तीसर्वें ॥२७५॥
 तेव्हां वरती असलेलें । चंद्रामृताचें तें तळें ।
 कलंडू लागून त्यांतलें । अमृत पडें शक्तिमुखीं ॥२७६॥

रस तो कुंडलिनींतुनी । संचार करी सर्वांगांनीं ।
 मग जेथल्या तेथ मुरोनि । जातसे कीं प्राणवायू ॥२७७॥
 तापलेल्या मुशींतलें । मेण निघून जाई सगळें ।
 मग तेथ कोंडून राहिलें । ओतलेले रस जेवीं ॥२७८॥
 तैसें देहाच्या आकारांत । अवतरलें तें अमृत ।
 वरून पांघराया घेत । परी त्वचेचें वस्त्र जणूं ॥२७९॥
 २५१ जेवी ढगांच्या पडद्यांनीं । सूर्य राहतो झांकूनि ।
 ते ढग जाता विरोनि । तेज न येतें आवराया ॥२८०॥
 तैसा वरिवरी कोरडा । असे त्वचेचा पोपडा ।
 तो, निघून जातो कोंडा । तैसा जाई निघोनि ॥२८१॥
 मग स्फटिक मूर्तिमंत । वा रत्न झालें अंकुरित ।
 तैसी अवयवाची शोभत । कांती तेथें योग्याच्या ॥२८२॥
 घेऊन संध्याकाळचे रंग । जणूं त्याचें निर्मिलें अंग ।
 वा तो योगी शोभतो लिंग । विशुद्ध प्रत्यग् आत्म्याचें ॥२८३॥
 वा तयाचें शरीर । म्हणजे भरलें केशर ।
 सिद्ध पारद साकार । किंवा शांति मूर्तिमंत ॥२८४॥
 आनंदाच्या चित्रांतला । रंग जणूं साकार झाला ।
 घाट ये ब्रह्मसुखाला । वा संतोष-रोप वाढें ॥२८५॥
 सोनचांफ्याची कळी सुंदर । वा अमृताचा पुतळा थोर ।
 वा त्याच्या रूपें आला बहर । कोमलतेच्या मळ्यासी ॥२८६॥
 शरदृक्तूचा चंद्र पूर्ण । तसें तें दिसें शोभून ।
 वा तेज आकार धरून । बैसलें येथें आसनीं ॥२८७॥

: १९४ :

ऐसें योग्याचें शरीर होत । कुंडलिनी पीता चंद्रामृत ।
 मग यमहि होतो भयभीत । पाहून आकृति देहाची ॥२८८॥
 मग वृद्धपणा संपतो । तरुणपणा तोहि नुरतो ।
 पुन्हां देहीं प्रगटतो । पूर्वीचा तो बालभाव ॥२८९॥
 २६१ वय दिसतें बालकापरी । थोर सामर्थ्य देहीं तरी ।
 धैर्य त्याच्या जें अंतरी । उपमा त्यासी न देतां ये ॥२९०॥
 सोन्याच्या वृक्षास पालवी । फुटून रत्नाची कळी यावी ।
 तैसीं त्यासीं नखें नवीं । येतीं सुंदर चांगली ॥२९१॥
 दांतहि दुसरे येतात । परी बारीक आकारांत ।
 जणूं दुहेरी पंगत । हिन्यांची बसली ओळीनें ॥२९२॥
 माणिकांचे कण सूक्ष्म । असावे जसे मनोरम ।
 तैसें अंकुरती रोम । त्याच्या सर्व अंगावरी ॥२९३॥
 तळपाय नि तळहात । तांबडीं कमळें शोभतात ।
 दिसे तयाच्या लोचनांत । निर्मळता ती किती सांगू ॥२९४॥
 पूर्णपणें वाढतां मोतीं । शिंपीमधें ना मावती ।
 मग जैशीं विलग होतीं । पुटें दोन्हीं शिंपल्याचीं ॥२९५॥
 तैसीं पापण्यांच्या कवेंत । दृष्टी न मावता बाहेर येत ।
 पूर्वीचीच असुनि होत । आता आकाशा व्यापिणारी ॥२९६॥
 शरीर सुवर्णाचें होत । परी वायूचें लाघव त्यांत ।
 कारण अंश नुरती तेथ । जलाचे वा पृथ्वीचे ॥२९७॥
 मग समुद्रा पैल पाही । स्वर्गीचा शब्द ऐकू येई ।
 मनोगत जें मुंगीचेंहि । तें येतें त्या ओळखाया ॥२९८॥

: १९५ :



बसे वायूच्या घोड्यावरी । अधर चाले जलावरी ।
 योग्यासी ऐशाप्रकारीं । अनेक सिद्धि लाभताती ॥२९९॥
 २७१ असो, मग ती कुंडलिनी । प्राणाचा हात धरूनी ।
 सुषुम्नेच्या दादऱ्यांनीं । ज्याला पायऱ्या नभाच्या ॥३००॥
 त्याच्यावरून चढोनि । येतसे हृदयस्थानीं ।
 जगज्जननी कुंडलिनी । लक्ष्मी चैतन्य सम्राटाची ॥३०१॥
 विश्वबीजाचा जो अंकुर । ही पाखर घाली त्यावर ।
 परब्रह्म जें निराकार । त्याची पिंडी होते जी ॥३०२॥
 परमात्मा जो कां शिव । त्याची संबळी ही नव ।
 प्राणाचा जेथें उद्भव । ती ही त्याची जन्मभूमि ॥३०३॥
 असो अशी ही कुंडलिनी । आली हृदयाचे ठिकाणी ।
 तेव्हां अनाहताच्या भाषणीं । नाद घुमवूं लागते ती ॥३०४॥
 कुंडलिनीसह ते ठायीं । बुद्धीचें जें चैतन्य येई ।
 त्यानें ऐकिला तो कांहीं । नाद तेथें मृदुतेनें ॥३०५॥
 सतत घोषाच्या रंगानें । केली नादांचीं चित्रणें ।
 उँकाराच्या आकृतीनें । रेखिलेलीं असतीं जीं ॥३०६॥
 याची जरी कल्पना येई । तरी जाणावी स्थिति ही ।
 परी कल्पिणारें जें होई । तें मन कोठून आणावे ॥३०७॥
 असो, म्हणून त्याठायीं । काय वाजें तें कळत नाही ।
 मग त्या नादाचें रूप कायी । सांगता येईल शब्दानें ॥३०८॥
 असो, एक सांगणें विसरलें । कीं जंव न वायू लीन झाले ।
 तोंवरी आकाशामधें भले । नाद घुमत राहताती ॥३०९॥



अनाहतीचा मेघ नाद । जंव आकाशीं गर्जे मंद ।
 तेव्हां ब्रह्मस्थानाचीं बंद । दारें सहज उघडतीं ॥३१०॥
 कमळगर्भाच्या समान । मूर्ध्नि आकाश जें अन्य ।
 पार्था ज्याठायीं चैतन्य । अतृप्तपणें राहतसें ॥३११॥
 २८१ तयीं हृदयाच्या परिसरीं । कुंडलिनी परमेश्वरी ।
 ती निजतेजाची शिदोरी । अर्पीं अतृप्त चैतन्या ॥३१२॥
 बुद्धीचें तोंडीं लावणें । दिलें नैवेद्यासह हातानें ।
 द्वैत न दिसेल पूर्णपणें । तसें केलें तें ठायीं ॥३१३॥
 ऐसें निजतेज समर्पून । होऊन राही केवळ प्राण ।
 तेव्हां कुंडलिनी दिसून । कैशी येतें सांगतों तें ॥३१४॥
 वायूच्या बाहुलीवर । घातिला होता पीतांबर ।
 तो फेडून टाकितां दूर । दिसे जैशी बाहुली ती ॥३१५॥
 वा झुळूक लागून वाऱ्याची । ज्योत निमाली दिव्याची ।
 वा चमक विद्युल्लतेची । हरवली आकाशामधें ॥३१६॥
 तैसें हृदयकमळापर्यंत । जी सोन्याची सरी शोभत ।
 किंवा आलीसे वहात । प्रकाशाची निर्झरिणी ॥३१७॥
 मग ती हृदयभूच्या पोकळींत । जिरोनिया लीन होत ।
 तसें मावळून रूप जात । शक्तीमार्जीं शक्तीचें ॥३१८॥
 तेव्हां शक्तीच म्हणती जरी । प्राण जाणावा तो तरी ।
 आतां न भेद त्यांभीतरीं । नाद, बिंदु, कला, ज्योति ॥३१९॥
 आतां मन न मारावें लागतें । पवन नको आधारातें ।
 ध्यानाच्याहि आदरातें । आतां न लागतें करावें ॥३२०॥



एक कल्पना करावी । अथवा दुसरी सोडावी ।
 ऐशी तेथे ना उरावी । आतां कांहीं भानगड ॥३२१॥
 धारण करिती देहातें । अशीं पांच महाभूतें ।
 पूर्णपणें त्या स्थितीतें । आटून जाती विलयाला ॥३२२॥
 पिंड म्हणजे शरीर । त्यानें अभ्यास बळावर ।
 जिंकून शरीरा जावें पार । म्हणजे ग्रासावें पिंडासी ॥३२३॥
 वा पिंड म्हणजे चैतन्य । कुंडलिनी ही पिंड जाण ।
 त्याचें होतां मीलन । पिंडें ग्रास पिंडाचा ॥३२४॥
 २९१ असा पिंडें पिंडाचा ग्रास । हें नाथपंथीचें वर्म विशेष ।
 तें दाखवी इथें जगदीश । महाविष्णु श्रीकृष्ण ॥३२५॥
 तीं गूढार्थाचीं गांठोडी । सोडून वस्त्रे केलीं उघडीं ।
 त्यांच्या यथार्थतेची घडी । उलगडली श्रोत्यांपुढें ॥३२६॥
 कारण हे श्रोतेजन । आहे गिऱ्हाइक सज्जन ।
 ते या माला देतील मान । ऐसें म्हणती ज्ञानदेव ॥३२७॥
 कृष्ण म्हणे अर्जुनातें । ऐक शक्तीचें तेज लोपतें ।
 तेव्हां योग्याच्या शरीरातें । स्थूलपणा न राही मुळीं ॥३२८॥
 म्हणून तें सूक्ष्म होतें । तें लोकांच्या नेत्रां न दिसतें ।
 शरीर सावयव राहतें । परी अमूर्त वायूरूप ॥३२९॥
 केळीचा सोलून गाभा । साली काढून केला उभा ।
 किंवा अवयव फुटले नभा । तैसा दिसे योगी तो ॥३३०॥
 असे जरीं होतें शरीर । तेव्हां त्या म्हणती खेचर ।
 या स्थितीचा चमत्कार । सामान्य जना फार वाटे ॥३३१॥

: १९८ :



असो योगाभ्यास वाढवीत । साधक पुढें निघोनि जात ।
 मार्गें उमटलेल्या पावलांत । राहताती अष्टसिद्धि ॥३३२॥
 या सिद्धीसी न काम आपुलें । अर्जुना ऐक पुढें भले ।
 तीन भूतांचे असे झाले । लोप देहाच्या देहांत ॥३३३॥
 जल पृथ्वीसी विरघळवी । जलाप्रती अग्नि जिरवी ।
 आणि वायू अग्नीस लोपवी । हृदयामाजि योगामधें ॥३३४॥
 नंतर स्वयें एकटा उरे । परी देहाच्या आकारें ।
 मग तो तेथून पुढें विरे । मूर्ध्नि आकाशीं जाऊनी ॥३३५॥
 ३०१ तयीं कुंडलिनी हें नांव जातें । मारुत नांव प्राप्त होतें ।
 परी शक्तीपण तें उरतें । लीन न होतें शिवांत जां ॥३३६॥
 मग जालंधर बंध सोडी । आणि जी कां सुषुम्ना नाडी ।
 तिचें मुख भेदून तांतडी । मूर्ध्नि आकाशीं पोंचते ॥३३७॥
 मग उँकाराच्या पाठीवर । पाय देऊन सत्वर ।
 सारूनिया मार्गें दूर । पश्यंतीच्या पायरीसी ॥३३८॥
 पुढें अर्धमात्रा उँकाराची । मूर्ध्नि आकाशीं मिळे साची ।
 जशी भरती नद्यांची । सागरीं होते एकरूप ॥३३९॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

मग ब्रह्मरंध्रीं स्थिरावोनि । सोहंभावाच्या भुजा पसरुनी ।
 मारुतरूप ती कुंडलिनी । परमात्म्यासी मिठी घाली ॥३४०॥
 तयीं महाभूतांचा अजुनी । पडदा होता तो सरुनी ।
 त्या दोघांच्या आलिंगनीं । पूर्णपणें ऐक्य झालें ॥३४१॥

: १९९ :



मग त्या समरस ऐक्याठायीं । मूर्ध्नि आकाशासह सर्वहि ।
 आटोनिया विलीन होई । पूर्ण प्रगटें अद्वैत ॥३४२॥
 समुद्र मेघामधें जातो । नदीरूपें परत येतो ।
 नदी मिळतां पुन्हां होतो । लीन आपण आपणांत ॥३४३॥
 तेवीं कुंडलिनीच्या निमित्तें । शक्ति शिवामधें मिळते ।
 मग शक्तीपण संपतें । केवळ उरतें एकत्व ॥३४४॥
 आतां तेथें द्वैत होतें । कीं स्वतःसिद्ध एकत्व तें ।
 ऐशी चर्चा करावयातें । संधी कांहीं उरेचि ना ॥३४५॥
 आकाश विरतें आकाशीं । स्थिति असे जी कांहीं ऐशी ।
 ती लाभतसे तयासी । अनुभवे जो तीच होतो ॥३४६॥
 ३११ या स्थितीची वस्तुस्थिति । ये न शब्दाचिया हातीं ।
 मग चर्चा करोनि ती । कैशी द्यावी समजावुनी ॥३४७॥
 मी सांगतें हा अभिमान । वैखरी जी धरी जाण ।
 ती या स्थितीपासून । दूर राहे कितीतरी ॥३४८॥
 भिवई मार्गें आज्ञाचक्र । तेथ विरून जाई मकार ।
 पुढें आकाशीं येणें दुर्धर । वाटे एकट्या प्राणासही ॥३४९॥
 मूर्ध्नि आकाशीं वायू प्राण । सर्वेच होतो विलीन ।
 तंव शब्दाचाहि मावळून । दिवस जाई तें ठायीं ॥३५०॥
 पुढें परब्रह्म डोहाठायीं । थांग न लागे नभाचाहि ।
 तेथें शब्दाचा या कांहीं । टिकाव कधीं लागेल कां ? ॥३५१॥
 म्हणून सांपडे अक्षरांत । वा कानासी ऐकूं येत ।
 ऐशी स्थिति ही ना खचित । सत्य आहे त्रिवार हें ॥३५२॥



भाग्य जेव्हां उजाडेल । तेव्हां हे अनुभवा येईल ।
 मग राहावें केवळ । तेंच आपण होऊनी ॥३५३॥
 ऐसी तल्लीनता येते । तेथ जाणीवहि ना उरते ।
 किती वेळां हेंच येथें । व्यर्थ सांगावें पुन्हां पुन्हां ॥३५४॥
 येथून शब्द मार्गें फिरति । संकल्प ते मरून जाती ।
 जेथ न शिरायाची शक्ति । विचाराच्या वाऱ्यासही ॥३५५॥
 जें यौवन तूर्या स्थितीचें । सौंदर्य उन्मनी दशेचें ।
 पार सर्व मापनाचें । अनादि जें परमतत्त्व ॥३५६॥
 ३२१ जें आकाराचा शेवट । जें मोक्षाचें अद्वैतपीठ ।
 जेथ उरलें होऊन नष्ट । आदि अंत हे दोन्हीही ॥३५७॥
 जें या विश्वाचें असें मूळ । जें योगवृक्षा लागलें फळ ।
 परमानंदाची केवळ । जीवनकला जें आहे ॥३५८॥
 जें महाभूतांचे बीज । जें महातेजाचें तेज ।
 तेंच आहे स्वरूप निज । अर्जुना माझें प्रत्यक्ष ॥३५९॥
 आदितत्त्वाची शोभा सगळी । या चतुर्भुज रूपें प्रगटली ।
 जेव्हां नास्तिकानें पीडा दिली । माझिया भक्तजनासी ॥३६०॥
 ज्यांचे धैर्य आणि विश्वास । टिकती पोंचे तों फळास ।
 लाभते तयाचि पुरुषास । शब्दातीत ही सुखस्थिति ॥३६१॥
 अष्टांगयोगाचें साधन । हें जें आम्ही केले कथन ।
 तयालाच ज्यांनीं संपूर्ण । मानिलें आपुलें शरीर ॥३६२॥
 मग या योगाभ्यासानें । शुद्ध झाल्या पूर्णपणें ।
 ते आमुच्याच प्रमाणें । मूर्त होती परब्रह्म ॥३६३॥



देहाकृतीची जी मूस । तेथ ओतला ब्रह्मरस ।
 आणि घडवियले तयास । असे दिसती योगी ते ॥३६४॥
 अंतःकर्णां हा अनुभव । प्रकाशता अभिनव ।
 अर्जुना हें विश्व सर्व । मावळुनी जाईल कीं ॥३६५॥
 तयावेळीं अर्जुन म्हणे । देवा खरें तुमचें म्हणणें ।
 ब्रह्मप्राप्तीच्या उपायानें । ब्रह्मप्राप्ति घडेलचि ॥३६६॥
 जो करून दृढनिश्चय । अभ्यासितो हा उपाय ।
 तो निश्चयें ब्रह्म होय । वर्णनानें कळलें हें ॥३६७॥
 ३३१ केवळ ऐकतां वर्णन । चित्तामधें उपजें ज्ञान ।
 मग तो होईल तल्लीन । अनुभवे हें कां सांगावें ? ॥३६८॥
 म्हणून तुझ्या वर्णनाठायीं । अन्यथा तें कांहीं नाहीं ।
 परी कृष्णा चित्त देई । थोडें माझ्या बोलाकडे ॥३६९॥
 तूं जो योगमार्ग कथिला । तो माझ्या मनासी पटला ।
 परी उलगडा न जाहला । योग्यता हवी काय तिथें ॥३७०॥
 जेवढी माझ्या अंगांत । योग्यता आहे आज सत्य ।
 ती जरी पुरेशी होत । तरी अभ्यासीन मार्ग हा ॥३७१॥
 अथवा तुम्हीं हें कथिलेलें । मला साधणें शक्य नसलें ।
 तरी मम शक्तीनुसार भलें । दुसरें सांगा मज कांहीं ॥३७२॥
 ऐसें माझिया मनांत । आलें तें मी विचारीत ।
 तुम्हीं आहा कृपावंत । भाव त्यांतील जाणावा ॥३७३॥
 तुम्हीं कथिलें योगसाधन । तरी त्याचें अनुष्ठान ।
 केवळ आवडलें म्हणून । कोणासही साधेल कां ? ॥३७४॥

: २०२ :



अथवा योग्यतेवांचून । तेथें प्रगती होत न ।
 हें ऐकतां म्हणे कृष्ण । वा, हें काय विचारिसी ॥३७५॥
 अरे काम साधारण । सिद्धी न जाई योग्यतेविण ।
 मग येथचा काय प्रश्न । श्रेष्ठ अत्यंत गोष्ट ही ॥३७६॥
 परी योग्यता म्हणती जीतें । ती तो सिद्धीवरून ठरते ।
 कारण योग्य व्यक्ति ज्यातें । हात घाली तें कार्य साधें ॥३७७॥
 ३४१ अर्जुना महत्वाचें कांहीं । सहजपणें लाभत नाहीं ।
 आणि खाण ना कोठेही । योग्यतेच्या पुरुषाची ॥३७८॥
 परी जो थोडा विरक्त । देहधर्म ज्याचे नियमित ।
 तो समजावा तूं येथ । योग्य आहे अधिकारी ॥३७९॥
 आणि ऐशी ही योग्यता । विवेकें तुज ये जोडितां ।
 म्हणून योगाचे विशेष आतां । अवघड कांहीं मानी ना ॥३८०॥

नात्यश्रतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्रतः ।

न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

मग म्हणती अर्जुनासी । सुलभ व्यवस्था ही ऐशी ।
 असूनहि उच्छृंखलासी । येथ योग्यता लाभे ना ॥३८१॥
 जो जिव्हेच्या अंकित । झोप न जया आवरत ।
 त्यास या योगमार्गांत । अधिकारी म्हणतां न ये ॥३८२॥
 वा जो दुराग्रह धरून । आहार टाकी तोडून ।
 मारितो भूक नि तहान । तोही न येथें अधिकारी ॥३८३॥
 नांव न काढी झोंपेचें । असा हट्ट ज्याचा नाचे ।
 शरीरही न राही त्याचें । मग योगाची काय कथा ॥३८४॥

: २०३ :



म्हणोनि योगा विरोधक । नको अत्यंत विषयसुख ।
वा हट्टानें दुसरें टोक । गांठून पूर्ण त्यजावें ना ॥३८५॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तास्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

आहार करावा सेवन । योग्यरीतीनें मोजून ।
इतरहि कर्मीं वर्तन । तसेंच नेमस्त असावें ॥३८६॥

अल्प असावें भाषण । चालावें नियम धरून ।

झोंपेलाही द्यावा मान । योग्यवेळीं योग्यपणें ॥३८७॥

३५१ जरी लागलें जागावें । तरी प्रमाण तया असावें ।

येणें देहा लाभेल बरवें । आरोग्य धातूंच्या साम्यानें ॥३८८॥

ऐसें इंद्रियां युक्तीनें । विषयांचा खाऊं देणें ।

तेणें मन समाधानें । संतोषासी वाढवी ॥३८९॥

असें बाहेर नियंत्रण । पडतां, आंत सुखावें मन ।

तेथें घडें योगसाधन । सहज अभ्यासावांचुनी ॥३९०॥

जैसे कृपा करितां भाग्याने । उद्योगाच्या निमित्तानें ।

चालत यावें ऐश्वर्यानें । आपुल्या घरीं आपोआप ॥३९१॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।

निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

ऐसें वागणारा नियमानें । योग अभ्यासी लीलेनें ।

तरी फळते अनुभवानें । तयालागीं आत्मसिद्धी ॥३९२॥

म्हणोनि नियमाची ही युक्ति । लाभे जया सभाग्याप्रति ।

तो होतसे चक्रवर्ती । कैवल्याच्या राज्याचा ॥३९३॥

: २०४ :



योगा मिळे युक्ती उत्तम । तरी होतो प्रयागसंगम ।
तेथ मन पावें विश्राम । क्षेत्रसंन्यासी होऊनी ॥३९४॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

निवातस्थलींचा दीप तो । स्थिरपणानें प्रकाशतो ।

या लक्षणानें शोभतो । अर्जुना तो योग-युक्त ॥३९५॥

आतां तुझे मनोगत । जाणून कांहीं बोलतो येथ ।

तरी नीट देऊन चित्त । तें सारें तूं ऐकावें ॥३९६॥

तूं योग सिद्धि व्हावी म्हणसी । परी दक्ष नससी अभ्यासी ।

काय भीति वाटे तुशीं । योगांतल्या कठिणतेची ॥३९७॥

३६१ यांत कष्ट असती भारी । ऐसा ग्रह ना मनीं धरी ।

इंद्रियें हीं दुष्ट सारीं । उगाच भीति दाखवितीं ॥३९८॥

जे स्थिर करी आयुष्यास । वाचवी संपल्या जीवनास ।

जीभ तया औषधास । शत्रु मानी आपुला ॥३९९॥

तैसें जें जें हितकर । इंद्रियांचें त्यासीं वैर ।

एवीं नाहीं खरोखर । सोपें योगासारिखें ॥४००॥

म्हणून वज्रासनापासून । आम्ही अभ्यास केला कथन ।

त्यायोगें इंद्रियदमन । साधेल तरी साधते ॥४०१॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

एवीं जरीं योगामुळें । इंद्रियांचें दमन झालें ।

तरी चित्त उतावळें । होतें आत्म्याच्या भेटीसी ॥४०२॥

: २०५ :



अंतर्मुख होता मन । पाही आपणासी आपण ।
आणि ओळखी कीं तत्क्षण । तत्त्व जें म्हणती तेंच मी ॥४०३॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिप्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

ओळख पटतां ही अंतरी । बसे सुखाच्या राज्यावरी ।
समरसून आत्म्याभीतरी । विरे चित्ताचा चित्तपणा ॥४०४॥
दुसरें नाही जयाहून । ज्याचें इंद्रिया न होतें ज्ञान ।
असें जें चैतन्य तें मन । निज ठायीं होऊन राही ॥४०५॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

मग मेरूपेक्षांही थोर । दुःख कोसळों देहावर ।
तरी त्या भारानें निरंतर । चित्त दडपलें जाईना ॥४०६॥
वा देह शस्त्रानें तोडिला । वा तो अग्नीमधें पडला ।
तरी न जागृति ये मनाला । आत्मानंदीं रमलेल्या ॥४०७॥
मन आत्म्यांत होऊनि स्थिर । येतें न देहभावावर ।
सर्वांचा त्या पडे विसर । अनिर्वाच्य सुखामुळें ॥४०८॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

संसारामधें गुंतलेलें । विषयाप्रति भुललेलें ।
मन ज्या सुखाच्या गोडीमुळें । स्मरें न आतां विषयाहि ॥४०९॥
सुख जें सौभाग्य योगाचें । साम्राज्य जें संतोषाचें ।
प्राप्तीसाठीं जयाचें । ज्ञान शोधावें लागतें ॥४१०॥

: २०६ :



तें योगाच्या अभ्यासानें । प्रत्यक्ष होतें अनुभवानें ।
आणि तयाच्या प्रत्ययानें । सहज येते तद्रूपता ॥४११॥

संकल्पप्रभवान्कामास्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

तो हा योग पार्था पाहे । एका दृष्टीनें सोपा आहे ।
परी दाखविणें अवश्य हें । संकल्पासी पुत्रशोक ॥४१२॥
विषय चांगले वाटती । या वृत्तीस संकल्प म्हणती ।
संकल्पाची संतति । सहज पुढें आहे काम ॥४१३॥
तो विषयांचा काम मेला । इंद्रियांचा निग्रह झाला ।
हें कळतां संकल्पाला । हृदय फुटोनि मृत्यू ये ॥४१४॥
अंतरीं प्रगटे विरक्ति । तरी संकल्पाची खुंटे गति ।
बुद्धि घेते विश्रांति । धैर्याचिया मंदिरांत ॥४१५॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

धैर्या आश्रय बुद्धि होते । तरी ती हळुहळू मनातें ।
अनुभवाच्या वाटे नेते । आणि बैसवी आत्म्याठायीं ॥४१६॥
याही रीतीनें ब्रह्मप्राप्ति । होते, घ्यावी विचारीं ती ।
हेंही न साधे तरी युक्ति । याहून सोपी सांगतो ॥४१७॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

साधकें आपुल्या वर्तनाचें । नियम बांधावे निग्रहाचें ।
आणि दृढतेनें तयांचें । पालन करावें जीवानिशी ॥४१८॥

: २०७ :

३८१ हे एवढें केल्यावरी । चित्त स्थिर झाले जरी ।
सहज आपुलें काम तरी । पुरें झालें समजावें ॥४१९॥
परी एवढ्यानें स्थिरता । जरी आली नाही चित्ता ।
तरी साधकानें तत्त्वता । त्यास मोकळें सोडावें ॥४२०॥
मग तें स्वैर जाईल जेथ । तेथून नियम आणील परत ।
अशा रीतीनें तयाप्रत । संवय लागेल स्थैर्याचि ॥४२१॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

कांहीं काळानें नंतरी । त्या स्थैर्याच्या बळावरी ।
आत्मस्वरूपाजवळ तरी । चित्त सहजें येईल ॥४२२॥
मग आत्मस्वरूपासी पाहुनी । त्यांत जाईल मिसळुनी ।
द्वैत अद्वैतीं बुडोनी । विश्व प्रकाशेल ऐक्यानें ॥४२३॥
आकाशामधें वेगळा । दिसणारा ढग निमाला ।
तरी सर्वहि विश्वाला । भरून उरतें आकाश ॥४२४॥
तैसें चित्त लया जातें । आणि विश्व चैतन्य होतें ।
ऐशी सिद्धि लाभते । यें सुलभ उपायानें ॥४२५॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

या सुखद योग मार्गांनीं । अनुभव घेतला बहुतांनीं ।
विषयवासना त्यजुनि । संकल्पाची संपदा जी ॥४२६॥
सुखाची धरून संगत । आले परब्रह्माच्या आंत ।
तेथ विरती, जसें जलांत । मीठ होतें एकरूप ॥४२७॥

: २०८ :

योगी असे तद्रूप होती । मग ती ऐक्यभाव स्थिति ।
दाखवी जगासह त्याप्रति । ब्रह्मसुखाच्या दिवाळीसी ॥४२८॥
असो, ऐसें मनानें मन । आवरणें हा मार्ग कठीण ।
जेवीं आपुल्या पाठीवरून । चालावें आपुल्या पायांनीं ॥४२९॥
म्हणोनिया तो तुला । जरी अवघड वाटला ।
तरी अन्य उपायाला । सांगतो तें ऐकावें ॥४३०॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

३११ तरी मी सकलदेहीं वसें । येथ चर्चेचें काम नसें ।
आणि माझ्या ठायीं तैसें । सकलहि हें राहतें ॥४३१॥
ऐसें परस्पर मिसळून । आहे हें मुळापासून ।
परी बुद्धीनें तें जाणून । घेतलें मात्र पाहिजे ॥४३२॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्याति ॥३०॥

या ज्ञानबळानें अर्जुना । करून ऐक्याची भावना ।
जो सर्व भूतांत भेदाविना । मातें भजतो सर्वदा ॥४३३॥
भूतांचिया विविधतेनें । भिन्नपणा न मानी मनें ।
जो सर्वांठायीं पूर्णपणें । जाणतो माझे एकत्व ॥४३४॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

मग ' तो ' आणि ' मी ' एक । हें बोलणें व्यर्थ देख ।
न बोलतां हि निःशंक । ' तो ' ' मी ' आहों एकरूप ॥४३५॥

: २०९ :



दिवा आणि त्याचा प्रकाश । येथ भेदासी ना अवकाश ।
 तसा तो माझ्या स्वरूपास । व्यापितो, मी रूप त्याचें ॥४३६॥
 उदक आणि त्याचा रस । आकाश आणि अवकाश ।
 या संबंधांपरी ' विशेष ' । रूपां त्याच्या माझ्या असे ॥४३७॥
 ज्यानें ऐक्याच्या दृष्टीतुनीं । सर्वत्र पाहिलें मज जाणी ।
 जैसें वस्त्राच्या दर्शनीं । पाहती कीं एक तंतू ॥४३८॥
 भिन्नरूपांचें अलंकार । तरी सोन्यांत नसती प्रकार ।
 असा निश्चय ज्याचा स्थिर । ऐक्याचा, पर्वतापरी ॥४३९॥
 वा वृक्षार्ची पानें जेवढीं । रोपें न लावलीं तेवढीं ।
 अशी अद्वैताच्या उजेडीं । अज्ञानाची रात्र सरे ॥४४०॥
 *०१ पंचभूतात्मक शरीरीं । तो असे, न गुंते तरी ।
 जो अनुभवाच्या बळावरी । झाला माझ्या योग्यतेचा ॥४४१॥
 माझी व्यापकता सगळी । त्याच्या अनुभवा गवसली ।
 तरी बोलण्यावांचून आली । सहज त्याशीं व्यापकता ॥४४२॥
 तो जरी असतो देही । तरी देहासी तादात्म्य नाहीं ।
 परी तयाची स्थिति ही । शब्दें न येई सांगतां ॥४४३॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

असो, सांगू काय फार । हें सर्वहि चराचर ।
 आपणासम निरंतर । पाहतसे तत्त्ववेत्ता ॥४४४॥
 सुख झालें अथवा दुःख । हें अशुभ, हें शुभदायक ।
 हे दोन्हीहि न स्पर्शती देख । त्याचिया मनोवृत्तीसी ॥४४५॥

: २१० :



असे बरे वाईट भाव । वा विविध वस्तू सर्व ।
 आपुल्या देहाचे अवयव । आहेत ऐसे मानी तो ॥४४६॥
 हें एकेक सांगू किती । विश्व सारे निश्चिती ।
 ' मीच झालों ' ऐशा रीतीं । ज्ञान स्वभावें होतें त्या ॥४४७॥
 तो देहास करी धारण । त्यां सुखी दुःखी म्हणती जन ।
 परी आमुची प्रचीति पूर्ण । कीं आहे तो परब्रह्म ॥४४८॥
 म्हणोनि आपण विश्व व्हावें । वा आपणांत विश्व बघावें ।
 पार्था, ऐशा साम्यभावें । नित्य करावी उपासना ॥४४९॥
 असा तुजसी बहुत वेळां । आम्हीं बोध आहे केला ।
 कीं साम्यभावाहून निराळा । लाभ अन्य नाहीं जर्गी ॥४५०॥

अर्जुन उवाच ।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।

एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

*११ तयीं कृष्णा अर्जुन म्हणे । तुम्हीं आमुच्या करुणेनें ।
 सारें सांगता परी उणें । स्वभावापुढती मनाच्या ॥४५१॥
 मन हें कैसें केवढें । पाहूं म्हणतां न सांपडें ।
 परी सारें विश्व थोडें । संचारासी वाटे तया ॥४५२॥
 ते मन कैसें स्थिरावेल । माकड कां शांत बसेल ।
 थांब म्हणता कां थांबेल । सोसाट्याचा वारा कधीं ॥४५३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

: २११ :

मन बुद्धीचा छळ करी । निश्चयातें ठेवी दुरी ।
 हें धैर्याच्या हातीं तुरी । देऊन जातें निसटुनी ॥४५४॥
 मोहांत पाडी विवेकाला । हाव, उपजवी संतोषाला ।
 हिंडवी दाही दिशाला । स्वस्थ बसूं म्हटलें तरी ॥४५५॥
 जो आवरावें तों उसळें । स्वैर होतें संयमामुळें ।
 तरी सांग कवणाबळें । स्वभाव निज टाकी मन ॥४५६॥
 म्हणोनि हें स्थिरावेल । आम्हां साम्यभाव लाभेल ।
 हें कधीं शक्य होईल । ऐसें न वाटे मजलागीं ॥४५७॥

श्रीभगवानुवाच ।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
 अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

तयीं श्रीकृष्ण म्हणती सत्य । तूं जें आहेस बोलत ।
 चंचल असणें अत्यंत । हा मनाचा स्वभावचि ॥४५८॥
 परी वैराग्याच्या बळावर । अभ्यासासी लाविलें जर ।
 मनास, तरी होईल स्थिर । कांहीं वेळानें अर्जुना तें ॥४५९॥
 कांहीं असो, एक भलें । या मनाचें आहे चांगलें ।
 कीं जें या गोड वाटलें । त्या गोडीसी चटावतें ॥४६०॥
 म्हणून यासीं साधकें । दाखवावी कीं कौतुकें ।
 आत्मानुभवाचीं सुखें । वारंवार प्रयत्नानें ॥४६१॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
 वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवामुमुपायतः ॥३६॥

: २१२ :

४२१ एरवीं विरक्ती नाही ज्यास । जें कधीं न करिती अभ्यास ।
 ते आवरूं न शकती मनास । हें आम्हांही मान्य आहे ॥४६२॥
 यमनियमाकडे न पाहती । विरक्तीची न ठेविती स्मृति ।
 अहर्निश बुडोनि राहती । विषयरूपी जलांत जे ॥४६३॥
 ज्यांनीं जन्मापासून मनाला । युक्तीचा चिमटा न लाविला ।
 तरी निश्चलता तयाला । येईल कैशी सांग मग ॥४६४॥
 म्हणोनि मनाचा निग्रह होई । असे उपाय जे आहेत कांहीं ।
 ते करी, मग कशी न येई । पाहूं निश्चलता मनाला ॥४६५॥
 अरे योगसाधन जेवढें । निरुपयोगी कां तेवढें ।
 परी अभ्यासासी वाकडें । आपुलें आहे हेंच खरें ॥४६६॥
 अंगीं योगाची असता शक्ति । तरी मनाची चपलता किती ।
 ज्या योगशक्तीनें स्वाधीन होती । महत्तत्वादिहि सारे ॥४६७॥

अर्जुन उवाच ।

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
 अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥
 कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
 अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥
 एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
 त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

तयीं अर्जुन म्हणे कृष्णाप्रत । तुम्हीं बोलता तें आहे सत्य ।
 मनोबळाची न करतां येत । तुलना योग सामर्थ्यासी ॥४६८॥

: २१३ :



योग काय तो कैसा कळे । हें अज्ञात आम्हां राहिलें ।
 इतुके दिवस तेणें म्हटलें । मी मनासी अनावर ॥४६९॥
 तुझ्या प्रसादें कृपावंता । साऱ्या जन्मांत हा आतां ।
 योगाचा परिचय अनंता । जाहला हा आज आहे ॥४७०॥
 महाराज आणिक परी । एक संशय माझ्या अंतरीं ।
 तो फेडावया श्रीहरी । समर्थ अन्य नसे कोणी ॥४७१॥
 ४३१ देवा योग्य मार्गाविण । केवळ श्रद्धा मनीं धरून ।
 पहात होता एक कवण । मोक्षपदासी मिळवाया ॥४७२॥
 तो इंद्रियरूपीं गांवातुनीं । निघाला आस्थेच्या मार्गांनीं ।
 पुढे पोहोंचावया लागुनी । आत्मसिद्धीच्या नगरासी ॥४७३॥
 तो आत्मसिद्धीसी न पोंचला । आणि परत न येववें तयाला ।
 कारण मध्येच मावळला । आयुष्याचा सूर्य त्याच्या ॥४७४॥
 जैसे आकाशीं अवेळे । विरळ थोडे ढग जमले ।
 ते न टिकून राहिले । वा न करिती वर्षाव ॥४७५॥
 तैसीं दोन्हीहि दुरावली । आत्मप्राप्ति नसे झाली ।
 आणि श्रद्धेमुळें न राहिली । निराशा आत्मप्राप्तीची ॥४७६॥
 ऐसें दोन्हीसीहि मुकला । परी श्रद्धा ठेवून मेला ।
 आतां सांगावें तयाला । गती कोणती प्राप्त होते ॥४७७॥

श्रीभगवानुवाच ।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
 न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

: २१४ :



तरीं कृष्ण म्हणती अर्जुनासी । मोक्षसुखाची आस्था ज्यासी ।
 मोक्षाच्या वांचून त्यासी । गती अन्य कधीं नसे ॥४७८॥
 परी एवढें एक होते । कीं मधें थांबावें लागतें ।
 परी तेंहि सुखद ठरतें । जें सुख नाहीं देवांही ॥४७९॥
 अभ्यासाचीं पाऊलें त्यानें । टाकिलीं असतीं त्वरेनें ।
 तरी येण्यापूर्वीं मरणें । पोंचता ब्रह्मपदासी ॥४८०॥
 परी तितुका वेग न राहिला । म्हणून विसावा घेणें पडला ।
 पुढें मोक्ष तो आहे ठेविला । त्याच्यासाठीं निश्चयानें ॥४८१॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

४४१ पहा आश्चर्य हें किती । जेथ इंद्राहि कष्ट पडती ।
 ते लोक सहज लाभती । अर्जुना या मुमुक्षूसी ॥४८२॥
 त्या दिव्य लोकांतले मग । अलौकिक भोगितो भोग ।
 परी वैराग्य याचें अव्यंग । म्हणून ये त्या कंटाळा ॥४८३॥
 भगवंता हा अडथळा । माझ्या मार्गीं कसा आला ।
 ऐसा अनुताप चित्ताला । त्याच्या वाटे दिव्यलोकीं ॥४८४॥
 मग सर्व धर्माचें माहेर । पुण्यस्थल असें थोर ।
 त्याठायीं तो नंतर । येतो पहा जन्माला ॥४८५॥
 वा ऐश्वर्यलक्ष्मीच्या आगरांत । रोप होऊन जन्मा येत ।
 जन्म घेई त्या वंशांत । जेथें चालती नीतीनें ॥४८६॥
 ज्या कुलांतलें भाषण । असतें सत्यासी धरून ।
 आणि सर्वहि वर्तन । होतें शास्त्राच्या आधारें ॥४८७॥

: २१५ :



आणि वेद हे ज्या कुलांत । असें जागतें दैवत ।
 वर्णाश्रमाची जी रीत- । स्वधर्म, ' उद्योग ' तो ज्यांचा ॥४८८॥
 ' विवेक ' सार असाराचा । हा ' मंत्री ' जया कुळाचा ।
 समुदाय ऋद्धिसिद्धींचा । ' गृहदेवता ' झाला जिथें ॥४८९॥
 आणि चिंता ज्या कुलांतली । ईश्वराची पतिव्रता झाली ।
 म्हणजे ज्यांना नाहीं उरली । ओढ ईश्वराविण दुजी ॥४९०॥
 ऐसा पुण्याच्या बळावर । जेथें सुखरूप व्यवहार ।
 त्या कुळामधें थोर । योगभ्रष्ट जन्म घेई ॥४९१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।

एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

किंवा योग्यांच्या कुळीं पवित्र । जेथ ज्ञानाचें अग्निहोत्र ।
 ब्रह्मसुखाचें जें क्षेत्र । ती मिराशी असे ज्यांची ॥४९२॥
 परब्रह्मरूपाविषयीं । परमनिष्ठा ज्यांचे हृदयीं ।
 वेदज्ञान वर्तनाठायी । -आणून वेदसंपन्न जे ॥४९३॥
 तत्त्वाच्या सिंहासनावरतीं । बसून विश्वाचें राज्य करिती ।
 या संतोषाच्या वनीं शोभती । मधुरवाणी कोकिळ जे ॥४९४॥
 ४५१ जे विवेकाच्या नगरांत । बसून मुख्य स्थानांत ।
 ब्रह्मरूप सेवितात । अक्षय फळ सदोदित ॥४९५॥
 अशा ब्रह्मनिष्ठांच्या कुळांत । योगीजनांचिया वंशांत ।
 अर्जुना तो जन्मा येत । योगभ्रष्ट भूमीवरी ॥४९६॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

: २१६ :



सूर्य उदया येण्यापूर्वी । सर्वत्र उजेड होतो जेवीं ।
 बाळ-शरीरामधें तेवीं । आत्मज्ञान होतें तया ॥४९७॥
 वाट न बघता प्रौढतेची । वर्षे न वाढतां वयाचीं ।
 तयासी बाळपणांतचि । प्राप्त होते सर्वज्ञता ॥४९८॥
 प्रज्ञेनें पूर्वजन्मार्जित । विद्या विकसती हृदयांत ।
 आपोआप प्रगटतात । सर्व शास्त्रें मुखांतुनी ॥४९९॥
 ऐसा जन्म अलौकिक । ज्याचें देवासहि कौतुक ।
 ज्यास्तव ते होऊन कामुक । स्वर्गीं करिती जपयज्ञ ॥५००॥
 अमरहि भाट होऊनी । करिती ज्याची वाखाणणी ।
 त्या मृत्यूलोकांत येउनी । श्रेष्ठ जन्म ऐसा धरी ॥५०१॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव हियते ह्यवशोऽपि सः ।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

मग मागील जन्मा शेवटीं । जी सद्बुद्धि होती निकटीं ।
 तीच आतां उठाउठी । प्राप्त होते नव्यानें त्या ॥५०२॥
 पायाळू आणि भाग्यवंत । दिव्यांजन पडलें नेत्रांत ।
 मग तो जेथ पाहूं जात । तेथ प्रगटें गुप्तधन ॥५०३॥
 तसे दुर्बोध जे तत्त्व विचार । ज्यांचा गुरुविण ना लागे पार ।
 तेही श्रम न करितां फार । बुद्धि तयाची जाणूं शके ॥५०४॥
 इंद्रियें जरी बलवान । होती मनाच्या स्वाधीन ।
 प्राणवायूंत विरें मन । प्राण मिसळतो आकाशीं ॥५०५॥
 ४११ ऐसें सहज येतें घडून । अभ्यास साधे यत्नावीण ।
 समाधि घर विचारून । वरिते त्याच्या चित्तासी ॥५०६॥

: २१७ :

योगरूप आसनावरी । तो विराजे भैरवापरी ।
 वा शोभा प्रगटली पुरी । योगारंभाच्या केळीची ॥५०७॥
 वैराग्यसिद्धीचा अनुभव । प्रगट झाला स्वयमेव ।
 किंवा माप लागें नव । त्याच्यारूपें संसारा ॥५०८॥
 संसारा माप लागणें । म्हणजे संसार उणावणें ।
 योगी आपुल्या वृत्तीनें । प्रपंचाचा नाश करी ॥५०९॥
 वा हा योगी म्हणजे दिवा । अष्टांगयोगाचा जाणावा ।
 त्याच्या प्रकाशानें दिसावा । संभार स्पष्ट साधनांचा ॥५१०॥
 जैसें चंदनाचे सुगंधानें । रूप धरावें कौतुकानें ।
 तैसें याच्या रूपानें । संतोष आला आकारा ॥५११॥
 वा सिद्धांच्या समूहांतून । कोणी आला योगीजन ।
 हा दिसे तैसा पूर्ण । साधकाच्या दर्शेतचि ॥५१२॥
 कारण कोट्यवधि वर्षांतून । सहस्रजन्मा उल्लंघून ।
 हा पोंचलासे येऊन । आत्मसिद्धीच्या तीरावरी ॥५१३॥
 म्हणून सर्वही साधन । चालें याच्या मागून ।
 विवेकाचें नृपासन । तेणें लाभें सहज तथा ॥५१४॥
 मग प्रज्ञेच्या झेंपेपुढें । तो विवेकहि मागें पडे ।
 आणि याचें ऐक्य घडें । विचारातीत ब्रह्माशीं ॥५१५॥
 तेथ मनाचे मेघ विरती । पवना न उरे पवनस्थिति ।
 आणि स्वतःठायीं निश्चिति । मुरोनि जातें आकाशाहि ॥५१६॥
 अर्धमात्रा जी उँकारी । तीहि तेथ बुडे पुरी ।
 अशीं अनिर्वचनीय खरीं । सुखें प्राप्त होतीं तथा ॥५१७॥

अशी लाभता ब्रह्मस्थिति । तेथ शब्दांची खुंटे गति ।
 सर्व शब्दांची संपत्ति । मौन धरून राही तिथें ॥५१८॥
 ऐसे सर्व गतींची गति । अव्यक्ताची प्रत्यक्ष मूर्ति ।
 अनुभवून ब्रह्मस्थिति । स्वयें होऊन राही तो ॥५१९॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

४७१ जन्मीं अनेक मागले । त्यानें विक्षेप झाडिले ।
 म्हणोनि आतां लाभले । लग्ना मुहूर्त जन्मताचि ॥५२०॥
 मेघ जातां विरून । राही आकाश होऊन ।
 तसें आतां लागून लग्न । मिळें तद्रूपतेसी तो ॥५२१॥
 विश्वाचा उत्पत्ति विनाश । घडून ये ज्या स्थलास ।
 तो त्या पावला ब्रह्मत्वास । देहधारी असूनही ॥५२२॥
 ज्या ब्रह्माच्या प्राप्तीकारण । धैर्याच्या बाहूसी विश्वासून ।
 उडी घेती कर्मठजन । षट्कर्माच्या प्रवाहांत ॥५२३॥
 वा लाभासाठीं ज्याचे । कवच घालून ज्ञानाचें ।
 प्रपंचाशीं निकराचें । युद्ध मांडिती ज्ञानीजन ॥५२४॥
 ज्याच्यासाठीं तपस्वीजन । निराधार मार्गावरून ।
 तपाचे दुर्ग दारुण । अतिकष्टानें चढती कीं ॥५२५॥
 भक्त भजती जयासी । यज्ञ विषय जो याज्ञिकासी ।
 जें सर्वकाळीं सर्वासी । अत्यंत आहे पूजनीय ॥५२६॥
 सर्व वस्तूचें अंतिमस्थान । साधकांचे जें साध्य पूर्ण ।
 ऐसें जें ब्रह्मनिर्वाण । तें तो होऊन राही स्वयें ॥५२७॥



तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

असा जो योगी ब्रह्म होय । तो कर्मठासी वंदनीय ।
ज्ञान्यास असे ज्ञानविषय । वा तो राजा तापसांचा ॥५२८॥
जीवशिवाचें मीलन । जेथें तेथें राही मन ।
तयासी श्रेष्ठत्व म्हणून । लाभें असून देहामधें ॥५२९॥
यास्तव पार्था तुजलागीं । मी सदैव कथितों वेगी ।
कीं तूं अंतःकरणं योगी । झाले पाहिजे निश्चयानें ॥५३०॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

अरे, योगी म्हणती जयासी । देवांचा देव जाणें त्यासी ।
तो सुखाचें सर्वस्व मजसी । तोच आत्मा असे माझा ॥५३१॥
आतां भज्य भक्त भजन । हें भक्तीचें साधन ।
तें जाहलें संपूर्ण । मीच त्याला अनुभवानें ॥५३२॥
स्वरूप आमुच्या प्रेमाचें । मग न बोलतां येई वाचे ।
कारण तैसें शब्दांचें । मुळींच नाहीं सामर्थ्य ॥५३३॥
आमुच्या ऐक्याच्या प्रेमासी । एक उपमा होय सरसी ।
कीं मी देह आणि त्यासी । आत्मा माझा ओळखावें ॥५३४॥
असे भक्त चकोरांचा चंद्र । सर्व त्रिभुवनांचा नरेंद्र ।
सकल गुणांचा समुद्र । वदे तेथ संजय म्हणे ॥५३५॥
कृष्णाचीं ऐकावीं बोलणीं । अशी जी इच्छा अर्जुनमनीं ।
ती दुणावली पहिल्याहुनी । असें समजलें कृष्णासी ॥५३६॥

: २२० :



तेणें सहज तोषलें मन । कीं बोधास लाभे दर्पण ।
आतां सुखें होऊन प्रसन्न । कृष्ण सविस्तर बोलेल ॥५३७॥
तो प्रसंग आहे पुढें । जेथ शांतरसा पूर चढे ।
रक्षणाचें पात्र उघडें । होईल सिद्धांत बीजाचें ॥५३८॥
सात्त्विक भावाच्या वृष्टीमुळें । प्रपंच भावनेचीं डिखलें ।
फुटून वाफे सिद्ध झाले । जाणत्यांच्या चित्तांचे ॥५३९॥
सुवर्ण-प्राप्ति व्हावी तैसा । लाभला अवधानाचा वापसा ।
म्हणून निवृत्तींच्या मानसा । पेरण्याची इच्छा झाली ॥५४०॥
तेथ श्रीज्ञानदेव म्हणती । चाडें केलें मजप्रति ।
आणि माझ्या मस्तकावरती । हात ठेविला सद्गुरूंनीं ॥५४१॥
ठेवून कृपेचा तो हात । बीज घातिलें चाड्यांत ।
ऐशा रीतीनें सर्व शेत । पेरिलें त्यांनीं श्रोत्यांचे ॥५४२॥
मी पेरणीचें चाडें म्हणून । जें निघें मम मुखांतून ।
त्यायोगें संतसज्जन । खरेंच होतील संतुष्ट ॥५४३॥
तरीं म्हणती श्रोतेजन । पुरें हें रूपकानें वर्णन ।
जें म्हणालें श्रीकृष्ण । तें आतां कथन करी ॥५४४॥
तरीं म्हटलें ज्ञानदेवांनीं । मी ते आणीन भाषणीं ।
परी मनाच्या कानांनीं । ऐकावें तें लागेल ॥५४५॥
बुद्धीच्या लोचनांनी । पहावें त्यालागुनी ।
आणि चित्ताच्या विनिमयानीं । प्राप्त करोनि घ्यावें तें ॥५४६॥
अवधानाचा देओनि हात । न्यावें त्यासी हृदयां आंत ।
मग सज्जनांच्या बुद्धीप्रत । तोषवितील शब्द हे ॥५४७॥

: २२१ :

शांतविती हे स्वहितासी । जीववितील पूर्णतेसी ।
 सुखपुष्पांच्या लाखोलीसी । जीवावरती वाहतील ॥५४८॥
 आतां अर्जुनासी कृष्णानें । कथिलें सुसंस्कृत-रीतीनें ।
 तें मी ओवीच्या प्रबंधानें । सांगेन म्हणती ज्ञानदेव ॥५४९॥



॥ श्रीशंकर ॥

अनुवाद ज्ञानेश्वरी

॥३८०॥ ॥३९॥ ॥३९॥ ॥३९॥ ॥३९॥ ॥३९॥ ॥३९॥ ॥३९॥ ॥३९॥

अध्याय सातवा

श्रीगणेशाय नमः ।

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

१ मग तेधवां श्रीअनंत । अर्जुनासी असे बोलत ।
 कीं आतां तूं योगयुक्त । झाला आहेस ये ठायीं ॥ १ ॥
 म्हणून माझ्या पूर्णतेसी । जाणून घेता ये तुजशीं ।
 तळहातावरील रत्नासी । जसें पाहती सर्वलोक ॥ २ ॥
 यास्तव आतां तुजसी ज्ञान । विज्ञानासह मी सांगेन ।
 ज्या योगानें तुजलागून । कळेल माझी पूर्णता ॥ ३ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

: २२२ :

: २२३ :

काय करावें विज्ञानासी । ऐसें न आणावें मनासी ।
 घ्यावें लागतें तयासी । प्रथमतांचि जाणूनिया ॥ ४ ॥
 कारण ज्ञानाच्या वेळेला । पहा बुद्धीचा मिटे डोळा ।
 नाव टेकतां तीराला । पुढें न सरते ज्या रीति ॥ ५ ॥
 जेथ जाणीव संपते । विचार फिरती मागुते ।
 आणि तर्काचें ना चालतें । चातुर्य जेथें कांहींहि ॥ ६ ॥
 पार्था या दशेकारण । जाणते नांव देती ज्ञान ।
 प्रपंचाविषयींचें वर्णन । विज्ञान त्यासी म्हणती कीं ॥ ७ ॥
 आणि या प्रपंचाविषयीं । सत्यत्वबुद्धि जी होई ।
 त्या स्थितीसी अर्जुना पाही । अज्ञान ऐसें जाणावें ॥ ८ ॥
 आतां अज्ञान सारें संपावें । विज्ञान सारें बाधित व्हावें ।
 आणि ज्ञान होऊन बसावें । आपण निज स्वरूपानें ॥ ९ ॥
 ऐसें मर्म जें गहन । तें मी शब्दांत आणीन ।
 ज्याचें अल्पहि प्रतिपादन । इच्छा पुरवी बहुतांच्या ॥ १० ॥
 जेणें वक्त्याचें थांबें बोलणें । श्रोत्यांचीं हि सुटतीं व्यसनें ।
 उरतें न ज्या ज्ञानानें । लहान मोठें हें कांही ॥ ११ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

सहस्रावधि माणसांत । एखाद्यासी इच्छा होत ।
 इच्छिणारे असतां बहुत । त्यांत जाणतो एखादा ॥ १२ ॥
 ११ जैसे सर्व पृथ्वीतुनी । एकेक घ्यावा निवडुनी ।
 आणि हे लक्षावधि मिळोनि । सैन्य त्यांचें सिद्ध होतें ॥ १३ ॥

: २२४ :

आणि त्या मोठ्या सैन्यांतून । शस्त्रांचे आघात सोसून ।
 एखादाच वीर जाण । आसनीं बसे विजयाच्या ॥ १४ ॥
 तैसें ज्ञानलालसेच्या पुरांत । कोट्यवधि वाहतात ।
 परी पैलतीरीं पोंचतात । त्यांतील कांहीं थोडके ॥ १५ ॥
 म्हणून समजून घेणें ज्ञान । ही गोष्ट नाही साधारण ।
 महत्त्व तिचें असामान्य । परि त्याचें पुढें बोलूं ॥ १६ ॥
 विज्ञानाविषयीं प्रस्तुत । आतां मी जें सांगत ।
 त्याकडें तूं आपुलें चित्त । अवधानानें नीट द्यावें ॥ १७ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्नाप्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

महदादि जी प्रकृति । मी माझी माया निश्चिति ।
 जैशी पडते साऊली ती । आपुल्याचि शरीराची ॥ १८ ॥
 हिला जे प्रकृति म्हणती । आठ तिचे प्रकार असती ।
 तिन्ही लोकांची उत्पत्ति । होते या प्रकृतीमुळें ॥ १९ ॥
 हे आठ प्रकार कोणते । तें जाणून घ्यावें वाटतें ।
 तरी मी करितों वर्णनातें । ऐक तूं तें विवेचन ॥ २० ॥
 पृथ्वी, जल आणि अग्नि । वायू, आकाश, मन जाणी ।
 बुद्धि, अहंकार हे मिळोनि । आठ भाग प्रकृतीचे ॥ २१ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

या आठांची जी साम्य स्थिति । ती माझी परा प्रकृति ।
 जीव ऐसें नांव देति । अर्जुना या प्रकृतीसी ॥ २२ ॥

: २२५ :



ही जडास करी चेतन । चेतनेंत आणी चैतन्य ।
 हिच्यामुळें मानतें मन । विकार शोकमोहादि ॥ २३ ॥
 २१ हिच्या सान्निध्याच्या मुळें । बुद्धीठायीं ज्ञान आलें ।
 हिनें अहंकाराच्या बळें । धारण केलें जगतासी ॥ २४ ॥
 एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
 अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥
 जीवरूपा सूक्ष्म प्रकृति । जेव्हां धरी स्थूल स्थिति ।
 तयीं करण्या भूतोत्पत्ति । उघडली जाते टांकसाळ ॥ २५ ॥
 उद्भिजादि प्रथम चार । निर्माण होती आकार ।
 भिन्न भिन्न दिसताहि प्रकार । मूल्य त्यांचें सारखेंचि ॥ २६ ॥
 चौऱ्यांशी लक्ष जाती होती । न कळे इतरांचे भेद किती ।
 ऐशीं नाणीं भरलीं जातीं । गाभाऱ्यामधें मायेच्या ॥ २७ ॥
 प्रत्येक नाणें पांचभौतिक । म्हणून त्यांचें मूल्य एक ।
 त्यांच्या मोजणीचें सर्व लेख । करून ठेवी प्रकृती ही ॥ २८ ॥
 योजनापूर्वक सर्व नाणीं । आधीं व्यवहारांत आणी ।
 नंतर त्यांसी आटवुनी । मूलरूपीं भरून ठेवी ॥ २९ ॥
 स्थितिकालीं मध्यंतरीं । कर्म अकर्माच्या व्यवहारीं ।
 गुंतवून ठेविते पुरी । भूतसृष्टीचीं नाणीं हीं ॥ ३० ॥
 असो, हें रूपकानें वर्णन । ऐक सांगतों स्पष्ट करून ।
 प्रकृतीच करिते निर्माण । नामरूपाचा विस्तार हा ॥ ३१ ॥
 आणि ती प्रकृति माझ्याठायीं । बिंबरूपें भासत राही ।
 म्हणून विश्वाचें मीच होई । उत्पत्ति स्थिति लय सारे ॥ ३२ ॥



मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।
 मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥
 मृगजळाचें शोधितां मूळ । किरणें निमित्त केवळ ।
 एक सूर्य हाच सकळ । कारण आहे त्याचे ॥ ३३ ॥
 त्यापरी ही सर्व सृष्टि । उपसंहारून शेवटीं ।
 प्रकृती राहतां एकटी । मीच दिसे ठायीं तिच्या ॥ ३४ ॥
 ३१ तैसे उत्पत्ति स्थिति लय । सर्व माझ्याच ठायीं होय ।
 मणीगण सूत्रें धरिला जाय । तैसे धरिलें विश्वा मी ॥ ३५ ॥
 सुवर्णाचे मणी केले । सोन्याच्या तारेंत ओविले ।
 तैसें सारें विश्व धरिलें । आंत बाहेर सारखें मी ॥ ३६ ॥
 रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
 प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥
 पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
 जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥
 जलामधें जो असे रस । वा वायूठायीं जो स्पर्श ।
 वा मीच आहे प्रकाश । चंद्र-सूर्य-ताऱ्यामधें ॥ ३७ ॥
 स्वभावानें पृथ्वीठायीं । शुद्ध सुगंध मीच राही ।
 आकाशांत शब्द पाही । मीच उँकार वेदामधें ॥ ३८ ॥
 माणसाचें माणूसपण । वा अहंकाराचें लक्षण ।
 पराक्रम जो असे जाण । तत्त्व तेंहि मीच आहे ॥ ३९ ॥
 अग्नि या नांवाचें उगीच । तेजावरीं आहे कवच ।
 तें दूर करितां, मूळचेंच । तेज दिसें जें तेंच मी ॥ ४० ॥



आणि साऱ्या त्रिभुवनांत । येवोनिया जन्माप्रत ।
 आपुलें जीवन जगतात । भूतें नाना प्रकारांनीं ॥ ४१ ॥
 वाऱ्यावरी जगती कोणी । कोणी वाढती गवतांनीं ।
 एक अन्नासी खाउनी । कोणी नांदती पाण्यामुळे ॥ ४२ ॥
 ऐसें प्रकृतीस अनुसरून । प्राण्यांचें वेगळें जीवन ।
 परी त्यां सर्वांमधून । अभिन्नपणें मीच राहीं ॥ ४३ ॥
 जें सृष्टीच्या उत्पत्तिवेळें । आकाशरूपानें अंकुरलें ।
 आणि लयाच्या काळीं गिळिलें । ज्यानें उँकारा मात्रेसह ॥४४॥
 ४१ विश्व भासतें जोंवरी । तोंवर दिसें विश्वाकारी ।
 मग महाप्रलयांतरी । यासी न राहे व्यक्तता ॥ ४५ ॥
 बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
 बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥
 बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
 धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥
 ऐसें अनादि जें सहज । आहे सर्व विश्वाचें बीज ।
 तेंच मी हें आतां तुज । स्पष्टपणानें सांगितलें ॥ ४६ ॥
 हें नीट विचारीं आणुन । जेव्हां करिशील चिंतन ।
 सांख्यशास्त्रासी धरून । तेव्हां येईल उपयोगा ॥ ४७ ॥
 असो सोडून विषयाला । आतां न मी बोले बोला ।
 ऐक आचरिती जयाला । तपस्वी, तें तप मीचि ॥ ४८ ॥
 बलवंताठायीं जें बळ । तें मीच जाणावें निश्चल ।
 बुद्धीमंतांठायीं सकल । बुद्धि असे जी तीच मी ॥ ४९ ॥

: २२८ :



भूतमात्रांच्या ठिकाणीं । काम जो तो मीच जाणी ।
 ऐसें म्हटलें कृष्णांनीं । आत्मरूपीं रमती जे ॥ ५० ॥
 जो काम प्रेरणा देऊन । करवी धनसंपादन ।
 त्या धनानें थोरपण । वाढवी धर्माचरणार्चें ॥ ५१ ॥
 विकारानुसारें इंद्रियांना । रुचेलशा करी वर्तना ।
 परंतु कधींही तयांना । धर्माविरुद्ध जाऊं न दे ॥ ५२ ॥
 निषिद्ध कर्माची आडवाट । सोडून मार्ग धरी नीट ।
 शास्त्रविधीनें जो स्पष्ट । योग्य म्हणूनि सांगितला ॥ ५३ ॥
 त्या विहितहि मार्गावरी । बंधनाची दिवटी करीं- ।
 घेऊन, कामाच्या पुढारीं । नियम चाले वाटाड्या ॥ ५४ ॥
 काम धरी रीत ऐशी । म्हणून पूर्णता ये धर्मासी ।
 मग तो भोगी संसारासी । मोक्ष तीर्थीचें मोती जणूं ॥ ५५ ॥
 मांडव वेदाच्या थोरवीचा । तेथ तो वेल वाढवी सृष्टीचा ।
 कर्मफळासह पालवीचा । संभार पोंचे मोक्षावरी ॥ ५६ ॥
 ५१ ऐसा काम जो नियंत्रित । जो प्राण्यांसी बीजभूत ।
 तो मीच म्हणे भगवंत । योगीश्रेष्ठ श्रीकृष्ण ॥ ५७ ॥
 हें एकेक सांगू किती । पदार्थ म्हणून जे जे असती ।
 त्या सर्वांची उत्पत्ति । मजपासून झाली असे ॥ ५८ ॥
 ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
 मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥
 भाव जे जे का सात्त्विक । राजस तामसादिक ।
 त्या सर्वांचाहि जनक । मींच हे तूं ओळखावें ॥ ५९ ॥

: २२९ :

यांची निर्मिती जरी माझी । तरी मी नसतो तयांमार्जी ।
 जैसे स्वप्नांच्या समाजी । जागृती न राहे कधीं ॥ ६० ॥
 सारभाग एकवटून । त्याचें बीज होतें निर्माण ।
 त्या बीजाच्या अंकुरांतून । काष्ठ वाढतें वृक्षाचें ॥ ६१ ॥
 परी तया काष्ठाठायीं । बीजपणा जैसा न राही ।
 तैसा मी नसतो पाही । विकारलेल्या भूतांमधें ॥ ६२ ॥
 मेघ उपजती आकाशांत । परी आकाश नसतें त्यांत ।
 पाणी राहतें मेघांत । परी मेघ न पाण्यामधें ॥ ६३ ॥
 त्या जलाच्या बळामुळें । विजेचें तेज चमकलें ।
 परी काय पाणी राहिलें । विजेमध्ये कधींतरी ॥ ६४ ॥
 अग्नीतून उपजे धूर । परी धुरांत न वैश्वानर ।
 तैसा मी न होतो विकार । जरी ते होती माझ्यातुंनी ॥ ६५ ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

परी शेवाळ जलीं वाढतें । आणि झांकितें तें जळातें ।
 वा ढगांनीं व्यापिलें जातें । लुप्त होऊन नभ जेवीं ॥ ६६ ॥
 ६१ अरे निद्रेस होता वश । खोटें स्वप्नहि ये प्रत्ययास ।
 मग तें आपणा आपणांस । आठवूं कां देतें कधीं ॥ ६७ ॥
 डोळ्यामुळेंच डोळ्यांत । मोतीबिंदू निर्माण होत ।
 आणि मग आडविली जात । दृष्टी जशी त्याच्यामुळें ॥ ६८ ॥
 तैशी माझी पडली छाया । त्रिगुणात्मक जी पहा माया ।
 तीच अर्जुना ये ठाया । आड पडदा झाली मज ॥ ६९ ॥

: २३० :

म्हणून सर्वहि प्राणी । ओळखिती न मजलागुनी ।
 सर्व ते माझेच असुनी । मद्रूपता ना येते तया ॥ ७० ॥
 जैसे जन्मलेले पाण्यांत । मोती जलीं ना विरतात ।
 घडोनिया तैसेंच येत । पहा अर्जुना ये ठायीं ॥ ७१ ॥
 घट मातीचा मातीसी । लगेच येई मिळवायासी ।
 परी भाजल्यावरी त्यासी । तो राही वेगळेपणें ॥ ७२ ॥
 तैसें भूतजात हें सर्व । माझेच असती अवयव ।
 परी मायेमुळें अभिनव । जीवदर्शेंत आले ते ॥ ७३ ॥
 ' अहंममता ' ' मी माझे ' । या भ्रमाचें घेतीं ओझे ।
 आणि जाहले आंधळे जे । मोहामुळें विषयाच्या ॥ ७४ ॥
 म्हणोनि जरी माझे असती । तरी मद्रूप ना होती ।
 माझे असून मजप्रति । ओळखिती ना अर्जुना ते ॥ ७५ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

अशी महदादि माझी माया । तिच्यापार धनंजया ।
 कसें जावें उतरोनिया । आणि व्हावें मद्रूप ॥ ७६ ॥
 ऐसा विचार येई चित्तीं । खरेंच ते अवघड अति ।
 कारण सामान्य नाही स्थिति । मायारूप नदीची या ॥ ७७ ॥
 ही ब्रह्मरूप जो पर्वत । त्याच्या कड्यांतून उगमा घेत ।
 पहिला हिचा वाहतो स्रोत । संकल्पाच्या उसळीनें ॥ ७८ ॥
 या मायेच्या नदींत । मग लगेच उठतात ।
 बुडबुडे छोटे अनंत । पांचहि महाभूतांचे ॥ ७९ ॥

: २३१ :



सृष्टीचा होई विस्तार । तोच हिचा ओघ थोर ।
 आणि चढतो हिंसी पूर । ग्रासशक्तीने काळाच्या ॥ ८० ॥
 प्रपंचसुख जी प्रवृत्ति । कैवल्यसुख जी निवृत्ति ।
 या दोन्हीही तटाप्रति । उंच तरी ओलांडी ही ॥ ८१ ॥
 ७१ गुणरूप मेघांच्या वृष्टीने । भरे मोहाच्या महापुराने ।
 मग वाहून नेते वेगाने । यमनियमांचीं गांवे ही ॥ ८२ ॥
 द्वेषाचे भांवरे पडती । मत्सराचे वळसे घे ती ।
 प्रमादांचे चमकती । मोठमोठे मासे इथे ॥ ८३ ॥
 प्रपंचाचीं वळणे पडती । कर्माकर्मांचे लोंढे येती ।
 ढीग त्यावरी तरंगती । सुखदुःखाच्या गदळाचे ॥ ८४ ॥
 विषयसुखाच्या बेटाप्रति । वासनेच्या लाटा झटती ।
 तेथ पुंजके जमा होती । जीवरूपी फेसाचे ॥ ८५ ॥
 ती अहंकारे हेलावते । त्रिविध मदाने उसळते ।
 विद्या धन कुलाचे ते । मद असती तीन येथे ॥ ८६ ॥
 ही माया-नदी सतत । पहा राहे खळबळत ।
 कारण तेथे उसळतात । लाटा विषयासक्तीच्या ॥ ८७ ॥
 उदयास्ताचे लोंढे येती । जन्ममृत्यूचे खळगे पडती ।
 तेथे बुडबुडे उठताती । पांचभौतिक देहाचे ॥ ८८ ॥
 मोह आणि भ्रम हे मासे । धैर्याचीं गिळितीं आमिषे ।
 अज्ञानाचे वांकडे वळसे । फिरती येथे वेगाने ॥ ८९ ॥
 भ्रान्तीच्या गदूळपणांत । जीव फसे आशेच्या गाळांत ।
 रजोगुणाच्या गर्जतात । खळबळी स्वर्गापर्यंत ॥ ९० ॥

: २३२ :



तमोगुणाची येथे धार । सत्वगुणाचा डोह स्थिर ।
 किती सांगू ही दुस्तर । आहे फार मायानदी ॥ ९१ ॥
 पुनर्जन्मांच्या लाटांमुळे । सत्यलोकाचा दुर्ग चळे ।
 ८१ ब्रह्मांडाचीहि कोसळे । दरड त्यांच्या वेगाने ॥ ९२ ॥
 त्या पाण्याचा ओघ थोर । अजुनी न ओसरे पूर ।
 तरून या मायेच्या पार । कोण जाईल ये ठायीं ॥ ९३ ॥
 येथले एक आश्चर्य । कीं जो तरण्यासी उपाय ।
 करावा तो होय अपाय । तो प्रकार ऐक आतां ॥ ९४ ॥
 आपुल्या बुद्धीच्या बाहूवरी । विश्वासून उतरले पुरीं ।
 त्यांचे झाले काय तरी ? । याचा पत्ता न लागला ॥ ९५ ॥
 आम्ही आहो ज्ञानवंत । अवघड आम्हां काय येथ ।
 गर्वाने गिळिले त्यांप्रत । जाणिवेच्या डोहामधे ॥ ९६ ॥
 कोणी वेदाच्या सांगडीवरी । अहंतेचे दगड भारी ।
 घेतले, ते सबंध उदरीं । गेले मदरूप नक्राच्या ॥ ९७ ॥
 कोणी तारुण्य-काष्ठ बांधिले । कामाच्या कासेस लागले ।
 ते चघळून टाकिले । विषयरूपीं मगरांनीं ॥ ९८ ॥
 मग वृद्धपणाच्या लाटांत । बुद्धिभ्रंशरूपीं जाळ्यांत ।
 बांधिले जाऊन वाहतात । इकडे तिकडे वेगाने ॥ ९९ ॥
 शोकतटाचे धक्के खात । बुडत क्रोधाच्या भोवऱ्यांत ।
 वरी येतां टोंचितात । आपत्तीचीं गिधाडे त्या ॥ १०० ॥
 बरबटले जाती अत्यंत । दुःखरूप त्या चिखलांत ।
 शेवटीं फसले जातात । मृत्यूरूपी गाळामधे ॥ १०१ ॥

: २३३ :

ऐसे विषयासक्त झाले । जे कामाच्या कासेस लागले ।
 ते यापरी वायां गेले । या मायेच्या नदीमधें ॥१०२॥
 यज्ञयागरूप पेटी । कोणी तराया बांधली पोटी ।
 परी ते गुंतले शेवटीं । स्वर्गसुखाच्या कपारीसी ॥१०३॥
 कोणी मोक्षाच्या आशेनें । पोहती कर्माच्या हातानें ।
 परी आडविले वळणानें । त्यांना विधिनिषेधाच्या ॥१०४॥
 ११ येथ विरक्तीची न चाले नाव । विवेकवेळूसी न लागे ठाव ।
 तरण्याचा आहे संभव । योगानें, परी विरळा तो ॥१०५॥
 जीवास आपुल्या शक्तीनें । माया नदी तरून जाणें ।
 शक्य आहे, हें बोलणें । असें पहा ऐशापरी ॥१०६॥
 अपथ्य करणारा जिंके व्याधि । साधूस कळे दुर्जन बुद्धि ।
 वा आलेली सोडील सिद्धि । जरी कधीं विषयासक्त ॥१०७॥
 न्याय करणारे चोरा भीति । गळ गिळवे माशाप्रति ।
 किंवा भेकड झुंजती । पिशाचासी उलटून ॥१०८॥
 जरी हरिणाचें पाडस । कुरतडूं शकेल पाश ।
 अथवा जरी मुंगीस । येईल मेरू ओलांडण्या ॥१०९॥
 तरी मायानदी दुस्तर । तिचें गांठिती पैलतीर ।
 जीव आपुल्या शक्तीवर । ऐसें पार्था समजावें ॥११०॥
 जेवीं कामुकासी अर्जुना । स्वाधीन ठेवतां न ये अंगना ।
 तैसें जीवा कठिण जाणा । तरणें मायानदीसी या ॥१११॥
 येथें लीलेनें एक तरती । जे सर्वस्वानें मला भजती ।
 त्यांना ऐलतीरावरती । आटतें पाणी मायेचें ॥११२॥

सद्गुरु नावाडी जयास । स्वानुभवाची कसिली कास ।
 तराया मिळविलें तराप्यास । ज्यांनीं आत्मनिवेदनाच्या ॥११३॥
 अहंकाराचें ओझें टाकिलें । विकल्प वाच्यासी चुकविलें ।
 आणि उतार शोधिले । विशुद्ध भगवद्भक्तीचे ॥११४॥
 निवृत्तीच्या पैलतिरीं । जाया ऐक्याच्या उतारावरी ।
 आत्मबोधाची पुन्हां खरी । सांगड बांधिली जयांनीं ॥११५॥
 १०१ उपरतीचे मारीत हात । सोहंभावाचे पाय रोवीत ।
 येऊन पोंचले सुरक्षित । निवृत्तीच्या तीरावरी ॥११६॥
 माझी ऐशा उपायांनीं । भक्ति केली जयांनीं ।
 ते तरती, ही माया झणी । परी हे ऐसे भक्त थोडे ॥११७॥
 न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
 माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥
 इतर जे असती बहुत । ज्यांना अहंतेचें बाधलें भूत ।
 म्हणून त्यांना विस्मृति होत । अर्जुना आत्मज्ञानाची ॥११८॥
 ते वेळीं नियमाच्या वस्त्राची । शुद्ध न उरे त्यांना साची ।
 वा पुढच्या अधःपाताची । लाजही ना वाटे तया ॥११९॥
 आणि वेदशास्त्रांनीं । जें नको म्हटलें कटाक्षांनीं ।
 तें कराया आवर्जुनी । हे अवश्य धावतात ॥१२०॥
 ज्यासाठीं घेऊन शरीर । जन्मा आले भूमीवर ।
 त्या मुख्य कार्याचें पुरेपूर । दुर्लक्ष होते जनासी या ॥१२१॥
 इंद्रियवृत्तींच्या रस्त्यावर । नाना विकारांचे प्रकार ।
 मेळविताती अनिवार । 'मी माझें' या बडबडीनें ॥१२२॥



दुःख शोकाचे घाव किती । बसले त्याची न राही स्मृति ।
मायेनीं गिळिले त्याप्रति । म्हणोनि घडतें हें सारें ॥१२३॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

म्हणून मी न लागे त्यासी । आतां निजहित साधण्यासी ।
भक्तीनें जे भजती मजसी । चार प्रकार असती ते ॥१२४॥
आर्त म्हणती पहिल्यासी । जिज्ञासू म्हणती दुज्यासी ।
तिसरा अर्थार्थी विशेषी । ज्ञानी चौथा जाणावा ॥१२५॥

दुःख परिहार व्हावया । आर्त भजतो धनंजया ।
खरें काय तें जाणावया । भक्ति करितो जिज्ञासू ॥१२६॥

व्हावयासी धनप्राप्ति । अर्थार्थी तो करी भक्ति ।

जरी यांना कामासक्ति । तरी अनन्य असती ते ॥१२७॥

१११ चौथा भक्त जो असे ज्ञानी । कर्तव्य नसें त्यालागुनी ।
चारांत एक हा म्हणोनि । आहे माझा खरा भक्त ॥१२८॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

त्यास ज्ञानाच्या प्रकाशांत । दिसतें न कांहीं द्वैताद्वैत ।
समरसून मीच होत । आणि राहतो भक्तहि ॥१२९॥
जैसें लोकांच्या दृष्टीतें । स्फटिक पाणीच भासतें ।
तशी ज्ञान्याची स्थिति नसते । असते कीं ती नवलाची ॥१३०॥
वारा विरता आकाशांत । वेगळा न तो भासत ।
तसा ज्ञानी मिसळून माझ्यांत । भक्तत्व आपुलें सोडीना ॥१३१॥



हालवुनिया पाहतां तो । वायू नभा वेगळा कळतो ।
एरवीं पहा तो भासतो । केवळ आकाशरूपानें ॥१३२॥
तैसे देहानें वा कर्मानें । भक्त दिसे वेगळेपणें ।
परी मनाच्या अनुभवानें । तो मी आहों एकरूप ॥१३३॥
ज्ञानाचिया प्रकाशानें । मजसी तो आत्मा म्हणे ।
म्हणून मीहि आनंदानें । म्हणतों त्यासी आत्मा मम ॥१३४॥
जीवापलीकडील स्थान । जी ब्रह्माची असे खूण ।
तेथें अनुभवानें पोंचून । तैसे करी व्यवहारहि ॥१३५॥
यापरी जो झाला पूर्ण । त्या देहाचें वेगळेंपण ।
कधीं माझ्यापासून । काय निराळें करूं शके ॥१३६॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

आपुलें हित साधायासी । कोणीहि भक्त भजे मजसी ।
परी ज्याचें प्रेम मजसी । ऐसा एक ज्ञानी भक्त ॥१३७॥
दुभत्याची आशा धरून । लोक ठेविती गाय बांधून ।
परी वासरूं दोरीविण । स्वाधीन ठेवी गाईसी ॥१३८॥
१११ कारण देहा-जीवानें तें । अन्य कोणा न ओळखितें ।
जें कांहीं पाहील त्यातें । वासरूं म्हणे माय माझी ॥१३९॥
ऐसें वासरूं अनन्यगति । म्हणून गाईसी प्रेम अति ।
यास्तव कृष्ण जें बोलती । सत्य असें तें निश्चयानें ॥१४०॥
असो, अर्जुना मग पुढती । कृष्ण म्हणाले येणें रीतीं ।
आर्तादि जे भक्त असती । तेही प्रिय असती मला ॥१४१॥

परी माझें मिळवून ज्ञान । जे न विषया पाहती वळून ।
 जैसे सागरा मिळतां येऊन । नदी न फिरते माघारी ॥१४२॥
 तशी त्याच्या हर्दीं जन्मलेली । अनुभवगंगा मज मिळाली ।
 तरी तोच मी ही का वेगळी । गोष्ट बोलूं शब्दानें ॥१४३॥
 अरे जयासी म्हणती ज्ञानी । तो मम केवळ चैतन्य जाणी ।
 हें बोलावें असें नसूनि । बोलूनि गेलों काय करूं ॥१४४॥
 विषयाच्या दाट झाडींतुनी । संकटें कामक्रोधांचीं टाळुनी ।
 सद्वासनेच्या मोकळ्या स्थानीं । येऊन पोंचला होता तो ॥१४५॥
 मग संतांच्या संगतीनें । निषिद्ध वर्तन त्यजिलें त्यानें ।
 चालला सरळमार्गानें । आपुल्या विहित कर्माच्या ॥१४६॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

ऐशी शेंकडों जन्मांतुनी । वाट चालला सत्कर्मांनीं ।
 विषयसुखाच्या तयांनीं । वहाणा न पायीं घातिल्या ॥१४७॥
 मग सत्कर्माचें सकल । स्वर्गसुख मिळों फळ ।
 ऐशी आशाहि केवळ । तो न धरी हें स्पष्ट आहे ॥१४८॥
 जें कां शरीर धारण । तेंच रात्र असें मानून ।
 त्वरें करी मार्गक्रमण । उपाधि साऱ्या टाकुनी ॥१४९॥
 टाकूनिया उपाधिप्रत । निर्भय झाला सुटसुटीत ।
 कर्मक्षयाच्या रूपें तेथ । पहाट झाली तयाला ॥१५०॥
 १३१ झाला गुरुकृपेचा उषःकाल । पडलें ज्ञानाचें ऊन कोमल ।
 तेथ दृष्टीस पडेल विपुल । ऐश्वर्य साम्यभावाचें ॥१५१॥

: २३८ :

मग तो जिकडे पाहतो । तिकडे मीच तया दिसतो ।
 वा निवांत जरी राहतो । तरी असतो मीच तया ॥१५२॥
 एक मीच आहे तयासी । भरलेला सर्व दिशासी ।
 जैसे बुडालेल्या घटासी । आंत बाहेर पाणी असें ॥१५३॥
 तो असे माझ्या आंत । अंतर्बाह्य मी त्याप्रत ।
 सांगतां येईल शब्दांत । ऐसी गोष्ट नाही ही ॥१५४॥
 असो, तो ज्ञानाचें भांडार । सर्वत्र पाही निरंतर ।
 तेणें साधून व्यवहार । विश्व करी आत्मरूप ॥१५५॥
 हें जें दिसतें सर्व विश्व । तो एक श्रीवासुदेव ।
 ऐसा असे त्याचा भाव । अनुभवाच्या सामर्थ्ये ॥१५६॥
 म्हणोनि आर्तादि भक्तांत । तोचि श्रेष्ठ असे अत्यंत ।
 आणि पहा म्हणतां येत । ज्ञानी ऐसें तयांसीचि ॥१५७॥
 ज्याच्या अनुभव भांडारांत । सर्व विश्व मावळें जात ।
 असा महात्मा अत्यंत । दुर्लभ आहे धनुर्धरा ॥१५८॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

इतर ते बहुत लाभती । जे भोगासाठीं भजन करिती ।
 ज्यांचे डोळे मंद होती । सारा येऊन आशेचा ॥१५९॥
 फळाच्या उत्कट इच्छेमुळें । हृदयामध्ये काम शिरले ।
 घर्षणानें त्याच्या विझले । ज्ञानाचे जे दिवे तिथें ॥१६०॥
 ऐसा तयांसी दोन्हीकडे । अज्ञानाचा अंधार पडे ।
 म्हणून मी न तयां सांपडे । असूनहि जवळ त्यांच्या ॥१६१॥

: २३९ :



मग ज्या इच्छित फलें देतीं । अशा देवदेवता शोधिती ।
 आणि त्यांची भक्ति करिती । अर्जुना सर्व प्रकारानें ॥१६२॥
 १४१ दास असती मूळचे । सर्व ते देहात्मबुद्धीचे ।
 त्यांत वासनेनें भोगाचे । दीन झाले असती ते ॥१६३॥
 ते विषयाच्या लालसेनें । भजती देवा प्रयत्नानें ।
 कसें तें तुज कौतुकानें । एक आतां सांगतो मी ॥१६४॥
 त्या त्या देवांचें आराधन । करण्याचें काय साधन ।
 विधिनियम त्याचें कवण । जाणून ते करिती पुरे ॥१६५॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
 तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

निरनिराळ्या देवतांना । भजणें आवडे त्यांना ।
 ती आवड त्यांची अर्जुना । पहा मीच पुरवितों ॥१६६॥
 मीच साऱ्या देवदेवता । निश्चय हा न त्याचें चित्ता ।
 म्हणून धरितो भिन्नता । भावाची तो त्या त्या स्थलीं ॥१६७॥

स तथा श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
 लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हे तान् ॥२२॥

मग योग्य तें आराधन । करितो श्रद्धा ठेवून ।
 जोंवरी न होते संपूर्ण । इच्छिलेली कार्यसिद्धि । १६८॥
 मग भावनेच्या प्रमाणें । फळ मिळतें त्याकारणें ।
 परी सर्वहि हें निश्चयानें । घडून येतें माझ्यामुळें ॥१६९॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
 देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

: २४० :



परी हे न जाणती ते भक्त । निमग्न राहती संकल्पांत ।
 म्हणोनि फळ नाशवंत । लाभतें त्यांसीं इच्छिलेलें ॥१७०॥
 हें ऐसें जें सकाम भजन । तें संसाराचेंच साधन ।
 'इच्छा झाल्या वाटती पूर्ण' । परी तें आहे स्वप्नापरी ॥१७१॥
 असो, आवडीनें अंतरीं । तो ज्या देवांची भक्ति करी ।
 मग फार झालें तरी । तो तें पावे देवत्व ॥१७२॥
 परी प्राण, मन, शरीरांनीं । जे सदा भजती मजलागुनी ।
 ते त्यांच्या देहपतनीं । मीचि होती निःसंशय ॥१७३॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
 परंभावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

१५१ परी जीव असें न वागती । व्यर्थ हिताचा घात करिती ।
 जणूं ते पोहण्या पाहती । तळहातींच्या पाण्यामधें ॥१७४॥
 पडतां अमृताचिया सागरीं । तोंड घट्ट मिटून धरी ।
 आणि वरी आठवी अंतरीं । डबक्यांतल्या पाण्यासी ॥१७५॥
 हें असें कां बरें करावें । अमृतीं शिरूनीहि मरावें ।
 उलट सुखें कां न राहावें । अमृतीं अमृत होऊनी ॥१७६॥
 सोडून फलाशेचा पिंजरा । या चैतन्याच्या अंबरा ।
 कां न झेंप घ्यावी जरा । अनुभवाच्या पंखांनीं ॥१७७॥
 अशा रीतीनें झेंपावतां । सुखाची लाभे विपुलता ।
 आणि विहार येईं करितां । स्वामित्वानें मुक्तपणें ॥१७८॥
 व्यापका मानिती सीमित । अव्यक्ता कां मानिती व्यक्त ।
 सिद्ध असतां साधनांत । आयुष्य वायां घालविती ॥१७९॥

: २४१ :

अर्जुना हें मम बोलणें । जरी भरलें विवेकानें ।
तरी या जीवाकारणें । तें ना रुचतें अंशेहि ॥१८०॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

योगमायेच्या पटलानें । आंधळे केले त्याकारणें ।
म्हणून ज्ञानाच्या प्रकाशानें । उघडहि मी दिसे न त्या ॥१८१॥
एरवीं मी ना जिचे ठायीं । ऐशी काय वस्तु राही ।
पाणी काय कधीं कांहीं । रसावांचून राहतें ? ॥१८२॥
वारा स्पर्शतो सर्वासी । सर्व कवळतें आकाशीं ।
तैसें सर्वहि विश्वासी । धरून आहे मीच एक ॥१८३॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।

भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

१६१ भूतकाळांत जें झालें । तेंहि सर्व माझ्यामुळें ।
वर्तमानां जें असें भलें । तेंहि आहे मीच एक ॥१८४॥
वा जें जें होईल पुढें । तें न माझ्या पलीकडे ।
हें बोलणें केवळ घडे । कांहीं न होतें जातें ना ॥१८५॥
साप जो भासतो दोरावरी । त्याला जात कसली तरी ।
तो न साधा वा विषारी । तैशीं मिथ्या सर्व भूतें ॥१८६॥
ऐसा मी सर्व विश्वांत । भरून असतां ओतप्रोत ।
संसार जीवा भासत । त्याचें कारण ऐसें असें ॥१८७॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।

सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥२७॥

: २४२ :

संसार भासे वेगळा । कारण पार्था अहंतेला ।
देहाविषयीं वाटला । फार उत्कट प्रेमभाव ॥१८८॥
त्यांना इच्छा ही मुलगी झाली । ती कामाच्या तारुण्यांत आली ।
म्हणून तिची जमविली । सोयरीक कीं द्वेषासी ॥१८९॥
त्या दोघांना मुलगा झाला । द्वंद्वमोह म्हणती त्याला ।
मग वाढविले तयाला । अहंता या आजीनें ॥१९०॥
आशेच्या रसानें पोसले । दांडगेपण त्याला आलें ।
आतां तो न मोजी भलें । धैर्यासी वा नियमासी ॥१९१॥
तो असंतोषाची दारू पितो । धुंद होऊन नांदतो ।
विषयाच्या खोलींत राहतो । विकाररूपी नारीसर्वें ॥१९२॥
तो चित्तशुद्धीच्या वाटेवरी । विकल्पाचे कांटे पसरी ।
आणि रस्ते मोकळे करी । निषिद्ध कर्मां जावयाचें ॥१९३॥
१७१ म्हणून जीव भांबावले । संसाराच्या वनीं पडले ।
आणि तेथें ठोकिले गेले । दुःखरूपी दंडुक्यांनीं ॥१९४॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

परी विकल्पाचे तीक्ष्ण कांटे । पसरलेले आहेत खोटे ।
जाणून ज्या न घ्यावी वाटे । माघार बुद्धिभ्रंशरूपी ॥१९५॥
एकनिष्ठेच्या पादुकांनीं । विकल्प टोंकें चेचिलीं त्यांनी ।
आणि टाळिलीं कटाक्षांनीं । वनें महापातकांचीं ॥१९६॥
मग पुण्याची धांव घेती । आणि माझ्या जवळ येती ।
म्हणून ते सुखें सुटती । वाटमान्यांच्या त्रासांतुनी ॥१९७॥

: २४३ :



जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

जन्ममरणाच्या फेऱ्यांतुनीं । सुटावें ज्या प्रयत्नांनीं ।
त्या विषयींची त्यांच्या मनीं । आस्था होते उत्पन्न ॥१९८॥
मग त्यांचा तो प्रयत्न । ब्रह्मरूपें फळतो पूर्ण ।
ज्या परब्रह्म फळांतून । रस ओसंडे पूर्णतेचा ॥१९९॥
मग त्यावेळीं हें सर्व । कृतार्थतेनें भरें विश्व ।
अध्यात्माचा अनुभव । येऊन संपे नवेपणा ॥२००॥
आतां ते ठायीं कर्माचें । कर्तव्य कांहीं नुरें साचे ।
मनपण सरून मनाचें । विराम पावतें तेथें तें ॥२०१॥
ऐसा अध्यात्म लाभ तया । होतसे कीं धनंजया ।
भांडवल म्हणून जया । व्यापारासी लाभलों मी ॥२०२॥
तेथ साम्याची पडून भर । वाढे ऐक्याचा व्यवहार ।
मग संपून जातें पार । भेदबुद्धीचें दारिद्र्य ॥२०३॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।

प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

अधिभूतासह मजप्रति । अनुभवानें जे जाणती ।
आणि पुढें त्याचरीतीं । अधिदैवाचें रूप माझें ॥२०४॥
१८१ ज्या जाणिवेच्या बळावर । मी अधियज्ञ दिसे समोर ।
म्हणून पडण्यावेळीं शरीर । विह्वल लव होती न ते ॥२०५॥
आयुष्याची तुटतां दोरी । गडबडतातीं भूतें सारीं ।
मरण ज्याचें आहे दुरी । त्याहि वाटे प्रलयकाल ॥२०६॥

: २४४ :



परी जे कोणत्याहि मार्गानें । मिसळले मजसी एकपणें ।
ते न सोडिती मजकारणें । त्यांच्या अंतकालींही ॥२०७॥
हे जे ऐसे ऐक्यचतुर । ज्यांचें चित्त जाहलें स्थिर ।
माझ्याठायीं, खरोखर । तेच योगी जाणावे ॥२०८॥
तरीं या शब्दाच्या कुपी खालीं । नव्हती अवधानाची अंजली ।
अर्जुन थोडासा त्यावेळीं । मार्गें होता राहिलेला ॥२०९॥
वा ब्रह्मबोधाचीं तीं फळें । ज्यांत अर्थाचे रस दाटले ।
आणि सुगंध दरवळले । सद्भावांचे भोंवती ज्या ॥२१०॥
ऐसें कृष्णरूपीं वृक्षातें । बोधफळ जें लागलें होतें ।
कृपेच्या वायूनें पडलें तें । पदरीं पार्थश्रवणांच्या ॥२११॥
तीं फळें नसतीं साधारण । सिद्धांताचीं झालीं पूर्ण ।
ब्रह्मसामर्थें बुडवून । घोळिलीं परमानंदांन ॥२१२॥
त्यांच्या निर्मळ माधुरीमुळें । अर्जुना ज्ञानाचे डोहाळे ।
झाले, घुटके घेतले । त्यानें सुधेचे विस्मयाच्या ॥२१३॥
ही सुखसंपत्ति लाभतां त्यासी । तो वाकुल्या दाखवी स्वर्गासी ।
गुदगुल्या त्याच्या हृदयासी । होऊं लागल्या आनंदे ॥२१४॥
१९१ बाह्यरूपेंहि त्या फळांचें । पार्था भरतें ये सुखाचें ।
आतां आस्वाद रसांचे । घ्यावे वाटले वेगें त्या ॥२१५॥
म्हणून अनुमानाच्या हातानें । बोधफळें घेतिलीं त्यानें ।
आणि घालूं पाही त्वरेनें । प्रचीतीच्या मुखामर्थें ॥२१६॥
तो तीं विवेकाच्या जिभेसी । येती न मुळीं चाखायासी ।
आणि फुटती ना प्रयत्नेसी । तर्काच्याही दांतानें ॥२१७॥

: २४५ :



तें पाहून अर्जुन । गेला थोडा बावरून ।
 काढिलें त्यानें मुखांतून । फळ तें ना चाखितांचि ॥२१८॥
 थक्क होऊन आश्चर्यानें । अर्जुन आपुल्या चित्तीं म्हणे ।
 हे शब्द म्हणजे तारांगणें । बिंबतीं झालीं जलाठारीं ॥२१९॥
 प्रतिबिंबाच्या सौंदर्यानें । मी त्यां मानिलें खरेंपणें ।
 कसा फसलों मुलभतेनें । ये ठारीं मी अक्षरांच्या ॥२२०॥
 हीं वाक्यें नसतीं विशेषीं । घड्या पडल्या आकाशासी ।
 तेथ बापड्या बुद्धीसी । माझ्या ठाव लागेल ना ॥२२१॥
 मग अर्थज्ञान व्हावें कसें । ऐसें चिंतून मानसें ।
 पाहिलें त्या गुडाकेशे । श्रीकृष्णाच्या मुखाकडे ॥२२२॥
 आणि केली विनवणी । कीं देवा तुमच्या भाषणीं ।
 सात पदे जीं क्रमांनीं । आलीं तीं न कळलीं मला ॥२२३॥
 यापूर्वीं त्यांचा कोणी । स्वाद न घेतला या ठिकाणीं ।
 त्याचें फार माझ्या मनीं । वाटतें आहे आश्चर्य ॥२२४॥
 अवधानाच्या चंचलपणें । केवळ ऐकण्याच्या बळानें ।
 सिद्धांतांतील खरेंपणें । तात्पर्य ये ना सांगता ॥२२५॥
 त्यांतून आपुलें भाषण । मुळींच नाही साधारण ।
 तुमचे शब्द ऐकून । आश्चर्यहि चकित होतें ॥२२६॥
 मम कानाच्या झरोक्यांतून । आंत आले शब्द-किरण ।
 चकित करी त्यांचें दर्शन । तेणें चळलें लक्ष माझें ॥२२७॥
 २०१ त्या शब्दांच्या मधला अर्थ । यावा माझिया ध्यानांत ।
 तरी तो सांगा देवा त्वरित । विलंब मज सोसवेना ॥२२८॥



असें आठवून मागचे । जाणाया अभिप्राय पुढचे ।
 मधें आपुल्या उत्सुकतेचें । रूप ठेविलें कृष्णापुढें ॥२२९॥
 ही अर्जुनाची विचारण्याची । पद्धति कशी चातुर्याची ।
 इच्छा करी लगटण्याची । परी न सोडितां मर्यादा ॥२३०॥
 सद्गुरूसी जयीं विचारावें । तयीं असेंच सावध असावें ।
 हें कौशल्य एक बरवें । सव्यसाची अर्जुनाचें ॥२३१॥
 आतां त्याचें तें प्रश्न करणें । सर्वज्ञ कृष्णें उत्तर देणें ।
 तें संजय आवडीनें । सांगेल कीं येठारीं ॥२३२॥
 तिकडे तुम्हीं द्या अवधान । सांगेन स्पष्ट मराठींतून ।
 जैसी उपयोगी पडे पूर्ण । दृष्टिआधीं कानाच्या ॥२३३॥
 बुद्धीच्या जिभेनें शब्दार्थ । चाखण्यापूर्वीं त्या शब्दांत ।
 जें सौंदर्य आहे ओसंडत । त्यानें इंद्रियें सुखावतीं ॥२३४॥
 मालतीची कळी जेवीं । सुगंधें नाका तोषवी ।
 परी लोचनांनाही सुखवी । सौंदर्य तिचें बाहेरचें ॥२३५॥
 तेवीं मराठीच्या सौंदर्यें । राजसुख भोगितीं इंद्रियें ।
 आणि सहजपणानें प्रमेयें । करितां येतीं आपलीशीं ॥२३६॥
 शब्दीं आणीन शब्दातीत । सुसंस्कृतपणें मी येथ ।
 ऐसें ज्ञानदेव म्हणतात । शिष्य निवृत्तिनाथांचे ॥२३७॥

